❀ समर्पण ❀

श्री १००८ श्रीमद् वेदमार्ग प्रतिष्ठापनाचार्य [illegible] ाचार्य
[illegible] सम्प्रदायाचार्य श्रीपति पीठ पट्ट सिंहासनाधिपति श्रीमत्परमहंस
परिव्राजकाचार्य जगद्गुरु भगवदनन्तपादीय
श्रीमद् दिव्यप्रेमाचार्य श्री त्रिदण्डि स्वामिन्

परमाचार्य श्रीमत्क श्रीचरणों की समर्चा तो सदा सौगन्ध्य परिपूरित पद्म पुष्पों से होती ही रहती है किन्तु आपके ही करुणानिरीक्षण-सुधासन्धुक्षणजन्य आर्द्रता से मुकुलित यह लघुपादप २०२६ वैक्रमीय गुरुपूर्णिमा के पावन पर्व पर "मुमुक्षु-पडि" व्याख्या रूपी निर्गन्ध पुष्प-सपर्या श्रीचरणों में इस विश्वास से समर्पित कर रहा हूं कि आप अपने उद्यान पादप की इस तुच्छ वरिवस्या को सहर्ष स्वीकार करेंगे ।

श्रीचरणों का अकिञ्चन—
श्रीधराचार्य (शिवप्रसाद द्विवेदी)

दो शब्द

वेदार्थसारजनकं स्मृतिबालमित्रम् ।
पद्मोल्लसद्भगवदङ्घ्रिपुराणबन्धुम् ।
श्रीमन्त्रराजमनिशं हृदि भावयन्तम् ।
श्रीविष्वगर्थयतिराजमहं प्रपद्ये ॥
नीचेऽपि ज्ञानरहिते मयि सागसेऽपि
प्रादात्पयः करुणया भुवि ज्ञानरूपम् ।
प्रेमाम्बुवाह अतिलौकिक आशुतोषः
सेनेशगोपिजयलाद् कुलदैवतं मे ॥

कृपालु पाठक वृन्द !

श्रीलोकाचार्य स्वामीजी प्रणीत 'मुमुक्षु पडि' ग्रन्थ के भावों को अभिव्यक्त करने का यह मेरा प्रयास, 'प्रांशुलभ्ये फलेमोहादुद्बाहुरिव वामनः' के समान है। प्रस्तुत रहस्य ग्रन्थ श्री सम्प्रदाय के उन तीन रत्नों का विशदी करण है, जिनकी जानकारी प्रत्येक श्रीरामानुजीय श्रीवैष्णवों के लिए आपेक्षित हैं। उन तीनों रत्नों के तत्त्वों को जानकर, समझकर, मननकर तथा उनका सतत चिन्तन कर हमारे प्रातर्वन्द्य पूर्वाचार्य, लौकिक एवं पारलौकिक विभूतियों की पराकाष्ठा चुम्बी प्रभाव को प्राप्त कर लिए। उन तत्त्वों का अंशतः विवेचन करने का क्षुद्र प्रयास ही प्रस्तुत 'मुमुक्षु

पडि' की हिन्दी व्याख्या है।

पञ्चसंस्कार के समय में आचार्य सभी श्रीवैष्णवों को, मूल मन्त्र, द्वयमन्त्र तथा चरम श्लोक का उपदेश देते हैं। किन्तु सभी शास्त्रों के सारतम भाव के अभिव्यञ्जक अर्थों को अपने में समेटे हुए उन मन्त्रों के अभिप्राय को समझना सामान्य मस्तिष्क का काम नहीं है। उन अर्थों को तो सभी शास्त्रों के पर्यालोचक कोई विरले महामानव ही समझ सकते हैं। इन्हीं मन्त्रों के अर्थों को जानने के लिए सप्तद्वीपा वसुमती को सातबार अवतार ग्रहण करके अलंकृतकरनेवालेशेषावतारभगवत्पादरामानुजाचार्यश्रीगोष्ठीपूर्णस्वामी जी महाराज के पास गये और अथकप्रयास के पश्चात् ही उन अर्थों को प्राप्त कर तत्कालीन महोत्सव में पधारे हुये जनसमुदाय में, सबों को उपदेश दिये। और जिसे वहां पर पधारे हुये भगवत्कृपा के पात्रभूत आचार्य श्री के चौहत्तर स्निग्ध शिष्यग्रहण कर पाये। वही परम्परा कुछ दिनों तक चलती रही। किन्तु पीछे चलकर अष्टादश रहस्य ग्रन्थों के प्रणेता श्रीलोकाचार्य स्वामी जीनेद्राविडभाषामेंसूत्ररूपमेंनिबन्धितकियाकिन्तुसूत्ररूपसेनिबन्धितकरनें केपश्चात् भी वह मन्त्रार्थ उत्तर भारतीय जनता के लिये आबोध्य ही रहा अतएव 'सकल शास्त्र निष्णात श्री १००८ श्रीमद्वेदमार्ग प्रतिष्ठापनाचार्योभयवेदान्त प्रवर्तकाचार्य पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीण काञ्चीप्रतिवादिभयङ्करपीठाधीश्वर जगद्गुरू श्रीमदनन्ताचार्य स्वामी जी महाराज ने सरल एवं सुबोध संस्कृत सूत्रों में अनूदित किया। इससे संस्कृत भिज्ञ जनता का तो महान् उपकार हुआ किन्तु

हिन्दी की जानकर जनता को उसे समझने में कठिनाई होती थी।

दास तो इन ग्रन्थों के विषय में बहुत कुछ जानता ही नहीं था। अपने परमाचार्य के द्वारा व्याख्यात श्रीवचनभूषण की व्याख्या देखा था। मात्र लेकिन उस रहस्यग्रन्थोंकेचूड़ामणि ग्रन्थ की गूढार्थ दीपिका को पूर्ण रूप से नहीं समझ पा रहा था। आज से करीब डेढ़ साल पूर्व वृन्दावन निवासरसिक श्रीउद्धवस्वामीजी से भेंट हुई। श्रीउद्धव स्वामीजी चर्चा करते हुये बतलाये कि हमारे पास काञ्ची प्रतिवादि भङ्कर पीठाधीश्वर अनन्ताचार्य स्वामीजी द्वारा संस्कृत में अनूदित 'मुमुक्षु पडि' ग्रन्थ है। अत्यन्त प्राचीन है। यदि उसका हिन्दी अनुवाद हो जाय तो अच्छा रहेगा। दास के भी मनमें उत्साह हुआ, और उस ग्रन्थ को देखने की अभिलाषा व्यक्त किया। श्री उद्धव स्वामीजी बड़ा ही प्रयास करके उक्त ग्रन्थ को हमारे पास भेज दिये। उस ग्रन्थ को देखने पर मेरे मन में अत्यन्त अभिलाषा हुई कि इस ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तर लिख दूँ। उस समय जैसे मेरी नींद ही समाप्त हो गयी और रात को देर-देर तक बैठकर बारह-चौदह दिन में पूरे ग्रन्थ का अनुवाद लिख दिया। अब इस बात की अभि-लाषा हुई की उक्त ग्रन्थ का प्रकाशन भी कराया जाय। किन्तु अर्थाभाव की समस्या सामने खड़ी थी। फिर किसी तरह इसके प्रकाशन करने का काम प्रारम्भ किया। अर्थाभाव के कारण केवल ५४० पांच सौ चालिस ही प्रतियां, छपवाया मैंने। दूसरी बात यह थी कि यह व्याख्या कृपालु पाठकों को कैसी लगे इसे

भी समझना था । क्यों कि मैंने तो वाद ग्रन्थों को ही पढ़ा है । रहस्य ग्रन्थों को पढ़ा नहीं । परमाचार्य के प्रवचनों को सुनने तथा उनके ग्रन्थों को पढ़ने से जो कुछ उपलब्धि थी, उसके तथा श्रीमदवरवर मुनीन्द्र प्रणीत प्रस्तुत ग्रन्थ के भाष्य के-आधार पर जो कुछ बन सका है सूत्रगत भावों को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है ।

ऐसे ही श्रीकाञ्ची प्रतिवादि भयङ्कर मठाधीश्वर - श्रीमद न्ताचार्य स्वामीजी द्वारा प्रणीत 'श्रीवचनभूषण' ग्रन्थ का भी संस्कृत अनुवादतथाभीवरवरमुनि स्वामी प्रणीत श्रीमद्भगवद् गीता' भाष्य दास के पास पड़े हुए हैं । जो श्री उद्धव स्वामीजी से ही प्राप्त हुए थे । गीता भाष्य का तो हिन्दी अनुवाद भी दास कर चुका है । हो सका तो उसका स्वयं ही शीघ्र प्रकाशन करायेगा । अर्थ संकट के कारण अभी संभव नहीं हो सकता है । श्रीवचन भूषण के लिए तो अभी काफी अध्ययन अपेक्षित है । देखें भगवान की जो इच्छा होगी वैसा होगा । इस हिन्दी व्याख्या से हमारे पाठक महानुभावों का थोड़ा सा भी उपकार हो सका तो दास अपने को कृत कृत्य समझेगा । विशेष भगवदिच्छा ।

परमाचार्य चरणों का दासानुदास
श्रीधररामानुज श्रीवैष्णवदास
शिवप्रसाद द्विवेदी
वेदान्त विभागाध्यक्ष
श्रीहनुमत् सं०म०विद्यालय
श्रीहनुमानगढ़ी, अयोध्याजी, (उ०प्र०)

श्रीमते रामानुजाय नमः ॥ श्रीवादिभीकर महागुरवे नमः
श्रीमल्लोकगुरवे नमः ॥ श्रीमद् वरवरमुनये नमः
श्रीमदनन्ताचार्य महागुरवे नमः ॥ श्रीमद् विष्वक्सेन महायोगिने नमः

मुमुक्षु पडि :-

प्रथमो भागः

प्रथमम् मूलमन्त्रप्रकरणम्

क्वेमा लोकगुरोः प्रभवविपुलाःकाष्ठां महिम्नां गताः
वाचोनन्तगुरोर्धियाविमलया यास्संकृते प्रापिताः ।
क्वाहं मन्दमतिर्धिया चपलया व्याख्यां मुमुक्षोः पडेः
कर्तुं लिप्सुरहो ! विवेकरहितः सीदामि शोकाकुलः ॥
सोऽहंश्रीसखमीश्वरीं जनिमतां सेनाधिपं यामुनम्
श्रीरामानुजयोगिनं यतिपतिं लोकार्यवर्यं गुरुम् ।
नत्वानन्तगुरुं श्रये यतिवरं तुष्टः स तेनैव मे
विष्वक्सेनयतीश्वरो प्रदिशताद् ग्रन्थेऽत्रशुभ्रांगतिम्

सूत्र १—मुमुक्षोर्ज्ञातव्यानि रहस्यानि त्रीणि ।

अनु०—मुमुक्षुओं को जानने योग्य तीन रहस्य हैं।

भा० दी०—बद्ध जीवों के सामान्यतः दो भेद हैं—बुभुक्षु और मुमुक्षु । बुभुक्षु जीव वे हैं जो त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) को चाहते है । मुमुक्षु जीव वे है जो संसार के तापत्रय से संतप्त

होने के कारण यह चाहते हैं कि किस तरह मैं इस संसार के तापत्रय को सदा के लिए सर्वथा समाप्त करके मुक्त हो जाऊं ! उन मुमुक्षु जीवों को जानने योग्य तीन बातें हैं। स्वस्वरूप, पर-स्वरूप या प्राप्य स्वरूप और उपाय स्वरूप । इन तीनों का ज्ञान रहस्यत्रय के द्वारा बड़ी ही आसानी से संभव है अतएव मुमुक्षुओं रह-स्यत्रयको अवश्य जानना चाहिए । श्रीपञ्चरात्र शास्त्र में कहा भी गया है कि–

'स्वज्ञानं प्रापकज्ञानं प्राप्यज्ञानं मुमुक्षुभिः ।
ज्ञानत्रयमुपादेयमेतदन्यं न किञ्चन ॥

रहस्यत्रय में श्रीमन्त्र या मूलमन्त्र, द्वयमन्त्र और चरम श्लोक ये तीन मन्त्र हैं । इन सबों को रहस्य शब्द से इसलिए अभिहित किया जाता है कि ये सभी वेदान्तों के सारार्थ का प्रतिपादन करने से परम गोप्य हैं ।

सूत्र २–तेषु प्रथमं रहस्यं श्रीमन्त्रः ।

अनु•–उन तीनों रहस्यों में श्रीमन्त्र पहला रहस्य है ।

भा• दी०–उन तीनों रहस्यों में पहला श्रीमन्त्र जीव के स्वरूप का ठीक-ठीक ज्ञान कराता है तथा पूर्ण रूप से हेय एवं उपादेय पदार्थ का ज्ञान कराता है । श्री मन्त्र बतलाता है कि जीव एक मात्र परमात्मा का भोग्य है, परमात्मा ही उसके एक मात्र शरण (रक्षक) हैं । जीव परमात्मा को छोड़कर किसी दूसरे का भोग्य नहीं है । इस तरह जीव के आकारत्रय का

प्रतिपादन करने के कारण यह जीव के स्वरूप याथात्म्य का बोधक माना जाता है। उसी के अनुकूल वह हेय एवं उपादेय का भी प्रतिपादन करता है। स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर ही शेष दो रहस्यों की प्रवृत्ति होती है क्योंकि वे उपाय एवं उपेय का प्रतिपादन करते हैं। इसीलिए श्रीमन्त्र को प्रथम रहस्य माना जाता है।

किञ्च जिस तरह श्रीमन्त्र के प्रणव का विवरण श्रीमन्त्र का शेष भाग हैं और उस मन्त्रशेष की व्याख्या द्वयमन्त्र करता है। द्वयमन्त्र की व्याख्या चरम श्लोक है। इसलिए श्रीमन्त्र को प्रथम रहस्य माना जाता है।

मन्त्र उसे कहते हैं जो अपने मनन करने वाले की रक्षा करे। 'मन्तारं त्रायत इति मन्त्रः'। जप होम आदि के द्वारा जो अपने उपासक को अपनी मन्त्रशक्ति के द्वारा रक्षा करे उसे मन्त्र कहते हैं। श्रीमन्त्र भी अपने उपासकों की रक्षा करता है अतएव वह मन्त्र है। किञ्च जो अर्थानुसंधान करते हैं उनकी रक्षा स्वस्वरूपयाथात्म्य के बोध द्वारा करने के कारण भी इसे मन्त्र कहा जाता है।

इसके पश्चात् आगे के सूत्रों द्वारा श्रीमन्त्र के वैभव का प्रतिपादन करने के लिए सर्वप्रथम उसके अनुसन्धान का क्रम बतलाया जा रहा है।

सूत्र ३—श्रीमन्त्रगौरवानुगुणेन प्रेम्णा गोपयन्ननुसन्दधीत।

श्रीमन्त्र के महात्म्य के अनुसार अत्यन्त प्रेम से तथा अत्यन्त गोप्य रूप से उसका अनुसन्धान करना चाहिये।

शास्त्रों में यह बतलाया गया है कि श्रीमन्त्र सभी वेदों तथा अन्य सभी शास्त्रों का आधार है—

ऋचो यजूंषि सामानि तथैवाथर्वणानि च।
सर्वमष्टाक्षरान्तस्थं यच्चान्यदपि वाङ्मयम् ॥

नारद कल्प में मूल मन्त्र की महिमा बतलाते हुए कहा गया है कि यह सभी मन्त्रों से महान गुह्यतम, पवित्र वस्तुओं से बढ़कर पवित्र तथा सनातन है।

'मन्त्राणां परमो मंत्रः गुह्यानां गुह्यमुत्तमम्।
पवित्रं च पवित्राणां मूल मंत्रस्सनातनः ॥'

इस तरह इसके वैभव के ही अनुसार इसका जप अत्यन्त प्रेमपूर्वक तथा छिपाते हुए करना चाहिए। कहा भी गया है— 'मन्त्रं यत्नेन गोपयेत्।' यही इसके अनुसंधान की विधि है।

उपासक में प्रेमाधिक्य रहने पर ही यह मन्त्र फलप्रद होता है इस बात को आगे के सूत्र मे बतलाया जा रहा है—

सूत्र ४—मन्त्रे, मन्त्रान्तरङ्गे वस्तुनि, मन्त्र प्रदेयाचार्येऽतिशयितः प्रेमाभवति चेत् कार्यकरो भवति सः।

अनु०—मन्त्र, मन्त्र प्रतिपाद्य देवता तथा मन्त्र प्रदाता आचार्य में अत्यधिक प्रेम होने पर ही यह मन्त्र फलप्रद होता है

भा० टी०—यह मन्त्र सभी जानने योग्य अर्थों का बोधक

है, अतएव इस मन्त्र में, इस मन्त्र के द्वारा सत्रों के स्वामी, रक्षक और प्राप्य रूप से, प्रतिपादित किये जाने वाले श्रियः पति भगवान् श्रीमन्नारायण तथा इस मन्त्रको प्रदान करने वाले आचार्य में प्रेमाधिक्य होने पर ही यह मन्त्र फलप्रद होता है। श्रीपाञ्चरात्र शास्त्र में बतलाया गया है कि–मन्त्र, मन्त्र प्रतिपाद्य देवता तथा मन्त्र प्रदाता आचार्य में सदा भक्ति करना चाहिए, क्योंकि ये सर्वप्रथम साधन हैं।

'मन्त्रे तद्देवतायाञ्च तथा मन्त्रप्रदे गुरौ
त्रिषु भक्तिः सदा कार्या से हि प्रथम् साधनम् ॥

अब पांचवें मन्त्र में इस सूत्र की अप्रतिम महिमा बतलाने के लिए इसके अवतरण का प्रकार बतलाया जा रहा है।

सूत्र ५–संसारिषु स्वात्मन ईश्वरं च विस्मृत्य ईश्वर कैंकर्यात् प्रच्युतेषु प्रच्युतास्स्म इत्यनुशयेनापि रहितेषु संसाररूपे महति सागरे पतितेषु क्लिश्यमानेषु सर्वेश्वरस्स्वकृपया एते मां ज्ञात्वा पारंगच्छन्त्विति–स्वयमेव शिष्यरूपेणाचार्यरूपेण च स्थितः श्रीमन्त्रं प्राचीकशत् ।

अनु०—संसारी जीवों के अपने स्वरूप एवं परमात्मा को भूल कर भगवत्कैंकर्य से स्खलित हो जाने पर भी हम स्खलित ही हैं इस प्रकार के पश्चाताप से भी रहित संसार सागर में डूबते रहने तथा दुःख पाते रहने पर सबों के स्वामी भगवान् श्रीमन्नारायण अपनी ही कृपा से प्रेरित होकर, ये जीव मुझे जान कर संसार सागर को पार कर जाँय, यह सोचकर स्वयं ही

शिष्य एवं आचार्य रूप से अवतरित होकर श्रीमन्त्र का प्रकाश किये

भा० दी०–अनादि काल से प्रवृत्त अविद्या के प्रवाह के कारण जीव अविद्याजन्य कर्म, कर्म की वासना तथा उसकी रुचि के परतन्त्र रहकर जन्म, जरा मरण आदि अनेक प्रकार के क्लेशों को भोगा करते हैं। इस दशा में जीव अपने स्वरूप को भूल जाते हैं। जीव का स्वाभाविक धर्म परमात्मशेषत्व है। पञ्च-रात्र शास्त्र में बतलाया भी गया है कि सभी जीव स्वभावतः परमात्मा के दास हैं। बद्धावस्था अथवा मोक्षावस्था में जीवों का इससे भिन्न कोई स्वरूप नहीं होता है।

'दास भूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः।
नान्यथा लक्षणं तेषाँ बन्धे मोक्षे तथैव च ॥'

शास्त्रों में परमात्मा के स्वरूप को बतलाते हुए उन्हें जीवों का स्वाभाविक स्वामी बतलाया गया है। 'पतिं विश्वस्य' श्रुति बतलाती है कि भगवान् सम्पूर्ण जगत् के एक मात्र स्वामी हैं।

बद्धावस्था में जीव अपने तथा परमात्मा के स्वरूप तथा सम्बन्ध को भूल जाता है। इस स्थिति में वह स्वाभाविक भगवत् कैंकर्य से प्रच्युत होकर भी उसे इस बात का ख्याल तक नहीं होता कि मैं अपने स्वाभाविक भगवत् कैंकर्य से प्रच्युत हो गया हूँ। इस कारण वे अनेक प्रकार के दुःखों को भोगते रहते है

जीवों को इस प्रकार से दुःखी ही देखकर अकारण करुणा वरुणालय श्री भगवान् उन्हें स्वस्वरूप, परस्वरूप, उपायस्वरूप, फलस्वरूप एवं विरोधी स्वरूप रूपी अर्थपञ्चकका उपदेश करने

के लिए स्वयं वदरिकाश्रम में नर नारायण रूप में अवतरित होकर नर को ही शिष्य बनाकर उन्हें जो मन्त्र का उपदेश दिये वह इस लिये कि जीव मेरे स्वरूप एवं सम्बन्ध को जानकर इस संसार सागर को पार करलें। श्रुति भी यह बतलाती है कि ब्रह्म के स्वरूप को जानने वाला ही मोक्ष का भागी होता है "ब्रह्म बिदाप्नोति परम्"

सूत्र ६—शिष्यत्वेनावस्थानं शिष्यस्थितेः (लक्षणस्य) लौकिकै ज्ञाततया तज्ज्ञापनाय ।

अनु०—संसारिक जीवों को शिष्य का लक्षण ज्ञात न होने के कारण उन्हें शिष्य का लक्षण बतलाने के लिए भगवान् ने शिष्य का रूप धारण किया।

भा० दी०—प्रश्न यह उठता है कि भगवान् स्वयं आचार्य ही बने रहते उन्हें शिष्य बनने से क्या ! इसका उत्तर यह है कि भगवान् स्वयं आचार्य बनकर मन्त्र का उपदेश तो दे ही रहे थे किन्तु उन्हें जीवों को यह बतलाना भी अभिष्ट था कि शिष्य को कैसे रहना चाहिये ? तथा शिष्य का स्वरूप कैसा होता है ! पाञ्चरात्र शास्त्र में यह बतलाया गया है कि वेद प्रतिपादित अर्थो में श्रद्धा, धर्म का पालन, शील गुण सम्पन्नता, वैष्णव होना पवित्र रहना, गम्भीर स्वभाव वाला तथा आचार्य सेवा में चतुर होना यह शिष्य का लक्षण है ।"

"अस्तिको धर्मशीलश्च शीलवान् वैष्णवः शुचिः ।
गम्भीरश्चतुरो धीरः शिष्यः इत्यभिधीयते ॥"

पाञ्चरात्र में ही अन्यत्र बतलाया गया है कि जो आचार्य के ही कार्य की सिद्धि के लिये शरीर सम्पत्ति ज्ञान वस्त्र कर्म गुण तथा प्राणों को धारण करता है वही वास्तविक शिष्य है। दूसरा नहीं।

शरीरं वासुविज्ञानं वासः कर्म गुणानसून् ।
गुर्वर्थं धारयेद् यस्तु सशिष्यो नेतरः स्मृत :।

इस तरह के गुणों से विशिष्ट ही शिष्य होता है। यह बतलाने के लिये ही भगवान् नर रूप से स्वयं शिष्य बन गये

सूत्र ७–सकलशास्त्रैरुत्पद्यमानं ज्ञानं स्वार्जितधनतुल्यम् श्रीमन्त्रेणोत्पद्यमानं ज्ञानं पैतृकधनतुल्यम् ।

अनु०–सभी शास्त्रों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अपनी कमाई हुई सम्पत्ति के सदृश (दुःख से प्राप्त होता है) और श्री मन्त्र के द्वारा उत्पन्न होने वाला ज्ञान पैतृक सपत्ति के समान (सुख से प्राप्त होने वाला) है।

भा० दी०–प्रश्न यह उठता है कि शिष्य बनकर जीवों को उपदेश देने की अपेक्षा तो अच्छा यह था कि भगवान् स्वयं ज्ञान के साधन शास्त्रों का ही उपदेश दे देते हैं। इसका उत्तर देते हुये श्रीलोकाचार्य स्वामीजी बतलाते है कि-यद्यपि श्रुतियां स्मृतियां यदि ज्ञान के साधन होते हैं, फिरभी शास्त्रों से ज्ञान को प्राप्त करना वैसे ही दुस्कर है जैसे कमाकर सम्पत्ति अर्जित करना। जिस तरह पिता पितामह आदि के द्वारा कमाई हुई सम्पत्ति को प्राप्त करने में पुत्र आदि को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता है

उसी प्रकार श्रीमन्त्र के द्वारा उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनायास लभ्य है।

सूत्र ८—भगवन्मन्त्राश्चानेके।

अनु॰—भगवान के मन्त्र अनेक हैं।

भा॰ दी॰—श्रीमन्नारायण के जिस तरह कल्याण गुण, नाम उनके गुणों के प्रकाशक अवतार एवं लीलाएँ असंख्य हैं, उसी तरह भगवान् के मन्त्र भी अनेक हैं। श्रीमन्नारायण के गुणों की अनन्तता का प्रतिपादन करते हुए श्री पराशर भट्टर श्री रङ्गराज-स्तव के उत्तर शतक में कहते हैं कि हे भगवान् जिस तरह आप के कल्याणगुणराशि हैं उसी तरह आपके गुणों के प्रवाहों के ही समान आपके अवतारों की भी संख्या असंख्य है।

'आष्तां ते गुणराशिवद् गुणपरिवाहात्मनाँ जन्मना संख्या'।

इसी तरह दिग् दिगन्त से पधारे हुए सामन्तों एवं प्रजाओं के द्वारा भगवान् राम के यौवाराज्याभिषेक के समर्थन में गगनव्यापी जयघोष से आश्चर्यित महाराज दशरथ के द्वारा इस उत्कृष्ट समर्थन का कारण पूछने पर प्रजाओं ने कहा—'वहवो नृप कल्याणगुणाः पुत्रस्य सन्ति ते।' अर्थात् राजन्! आपके पुत्र में अनेक कल्याणकारी गुण है। अपने जन्मों की अनेकता का प्रति पादन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं हे अर्जुन! हमारे और तुम्हारे अनेक जन्म बीत चुके है। "बहूनि में व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुनः" श्रुति भी बतलाती है कि भगवान् के मूल मन्त्र अनन्त है।

प्रश्न यह उठता है कि वे सभी मन्त्र एक ही तरह के हैं कि भिन्न -२ प्रकार के। इसका उत्तर देते हुए श्रीलोकाचार्य स्वामीजी कहते हैं—

सूत्र ९—ते च व्यापकाऽव्यापकाश्चेति वर्गं द्वयात्मकाः ।

अनु०-अर्थात् वे मन्त्र दो वर्गों वाले हैं व्यापक और अव्यापक

भा० दी०-व्यापक मन्त्र वे है जो सर्व व्यापक भगवान् के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। भगवान् के अवतार गुण एवं चेष्टाओं में से किसी एक के प्रतिपादक मन्त्र अव्यापक कहलाते है

उक्त दोनों प्रकार के मन्त्रों में से व्यापक तीन मन्त्रों की श्रेष्ठता बतलाते हुये श्रीलोकाचार्य स्वामीजी कहते है।

सूत्र १०—अव्यापकेभ्यो व्यापकास्त्रयोऽपि श्रेष्ठाः ।

अनु०-अर्थात् अव्यापक मन्त्रों की अपेक्षा व्यापक तीन मन्त्र श्रेष्ठ हैं।

भा० दी०-अव्यापक मन्त्रों की अपेक्षा नारायण गायत्री से सम्बन्ध रखने वाले तीन व्यापक मन्त्र ही श्रेष्ठ हैं। यद्यपि भगवान् के सभी मन्त्र परम पवित्र एवं जाप्य हैं। किन्तु अर्थ की दृष्टि से यहां पर विचार किया जा रहा है। नारायण गायत्री में भगवान् के तीन नाम आये हैं नारायण, वासुदेव, एवं विष्णु उन सम्बन्ध रखने वाले भी क्रमशः अष्टाक्षरी द्वादशाक्षरी एवं षडक्षरी मन्त्र है। ये तीनों मन्त्र अन्य मन्त्रों की अपेक्षा व्यापक एवं श्रेष्ठ माने जाने हैं।

इन तीनों में भी श्रीमन्त्र की प्रधानता बतलाते हुये श्री

लोकाचार्य स्वामीजी कहते हैं—

सूत्र ११–तेस्वपि त्रिषु महान् श्रीमन्त्रः प्रधानभूतः ।

अनु०–उन तीनों में महान् श्रीमन्त्र ही प्रधान है ।

भा० दी०–नारायण गायत्री में सर्वं प्रथमोच्चारित नारायण नाम से सम्बन्ध रखने के कारण श्रीमन्त्र की श्रेष्ठता ज्ञात होती है । नारदीयकल्प के अष्टाक्षर ब्रह्मविद्या में बतलाया गया है कि अष्टाक्षर से बढ़कर कोई दूसरा मन्त्र नहीं है ।

'नास्ति चाष्टाक्षरात् परः' नृसिंह पुराण में भी अष्टाक्षर को सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है । बृद्धहारीत् का कहना है कि सभी व्यापक मन्त्रों में अष्टाक्षर मन्त्र ही महान् है ।

व्यापकानाम् च सर्वेषाम् ज्यायानष्टाक्षरोमनुः ।

किञ्च अर्थ पूर्ति आदि गुणों के कारण भी अष्टाक्षर मन्त्र को महान् माना जाता है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि तीनों व्यापक मन्त्रों में श्री मन्त्र को ही प्रधान क्यों माना जाता है । इसका समाधान करते हुये श्रीलोकाचार्य स्वामीजो कहते हैं–

सूत्र १२–अन्ययोर्द्वयोरशिष्टपरिग्रहोऽपूर्तिश्चस्तः ।

अनु०–अन्य दो मन्त्रों में अशिष्ट पुरुष परिग्रह तथा अर्थ की दृष्टि से अपूर्णता ये दो दोष हैं ।

भा० दी०–वासुदेव मन्त्र एवं विष्णु मन्त्र यद्यपि नारायण मन्त्र के ही समान भगवान् के स्वरूप, रूप गुण आदि सबों के प्रतिपादक हैं । फिर भी माया बादी प्रभृति अशिष्ट व्यक्तियों के

द्वारा स्वीकार किये जाने के कारण तथा व्याप्य के अध्याहार सापेक्ष होने के कारण ही ये दोनों मन्त्र श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि षडक्षरी मन्त्र में व्याप्ति के प्रकार तथा फल एवं व्यापक के गुणों को न बतलाकर केवल व्याप्ति को ही बतलाया गया है। द्वादशाक्षरी मन्त्र में व्याप्ति का फल न बतलाये जाने के कारण अपूर्ति नामक दोष है।

अग्रिम तेरहवें सूत्र में श्रीमन्त्र के शिष्ट परिग्रहत्व का प्रतिपादन करते हुए श्रीलोकाचार्य स्वामीजी कहते हैं।

सूत्र १३–एनं वेदा ऋषयो दिव्य सूरय आचार्यश्च समदृषत

इसको (श्री मन्त्र को) वेद महर्षि दिव्य सूरिगण तथा पूर्वाचार्य सबों ने समादृत किया है।

भा० टी०–श्रीमन्त्र प्रतिपादित अर्थ का ही पूर्ण रूप से विवरण नारायणानुवाक, सुवालोपनिषत् अन्तर्यामी ब्राह्मण प्रभृति वेदान्त विभाग, वेदान्तार्थों के प्रकाशक व्यास, पराशर, मनु वाल्मीक, प्रभृति, महर्षि गण, दिव्य प्रबन्धों के प्रणेता भूतादिदिव्यसूरिगण तथा श्रीनाथ आचार्य यामुनाचार्य श्रीभाष्यकारादि पूर्वाचार्य पूर्ण रूप से अपने उपदेश परम्परा में किये हैं तथा अपने निवन्धों में श्रीमन्त्र का उचित आदर किये हैं।

उपयुक्त सूत्रों में श्री मन्त्र की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। निम्न चौदहवे सूत्र मे इस मन्त्र के प्रतिपाद्य भगवान के भी अपेक्षा इस मन्त्र के माहात्म्यातिशय्य का प्रतिपादन करते हुए श्रीलोकाचार्य स्वामीजी कहते हैं।

सूत्र १४–वाक्यप्रभाववन्नभवति वाचकप्रभावः ।

अनु०–वाचक मन्त्र का प्रभाव वाच्य भगवान के ही प्रभाव जैसा नहीं होता ।

भा० दी०–मन्त्र भगवान् का वाचक है और मभवान् मन्त्र के वाच्च हैं । भगवान् अपने भक्तों के रक्षक हैं । मन्त्र भी अपने उपासक भक्तों की रक्षा करता है, इस लिये मन्त्र और भगवान में कुछ हद तक समता है । किन्तु दोनों में बहुत अधिक विषमता भी है । जिसे नीचे के सूत्रों में बतलाया जा रहा है ।

सूत्र १५–तस्मिन् दूरस्थेप्ययमासन्न उपकरोति ।

अनु०–भगवान् के दूर रहने पर भी यह पास ही रहकर उपासकों का उपकार करता है ।

भा० दी०–यद्यपि भगवान् सर्वान्तिर्यामी हैं, अतएव वे सदा हमारे साथ ही रहा करते हैं । लेकिन उनका दर्शन सबों को होना असम्भव है और न तो आपत्ति पड़ने पर साक्षात् दर्शन ही देते हैं, जिससे कि हम अपनी रक्षा की माँग कर सकें । मन्त्र तो सदा हमारे साथ रहता है जब चाहें उसका सहारा ले सकते हैं और उससे रक्षा भी प्रा त कर सकते हैं ।

इस अर्थ से स बद्ध एक उदाहरण सोलहवें सूत्र में दिया जा रहा है ।

सूत्र १६–द्रौपद्या आपदि श्रीमन्नाम हि वस्त्रमवीवृधत् ।

अनु०–आपत्ति पड़ने पर भगवान् के ऐश्वर्य सम्पन्न नाम

ने ही द्रौपती के वस्त्र को बढ़ा दिया।

भा० दी०–दुःशासन द्वारा वस्त्रापहार किये जाने के प्रसङ्ग में जब द्रौपती की रक्षा उसके अर्जुन और भीम जैसे पराक्रमी पति नहीं कर सके तो द्रौपदी ने संसार से निराश होकर भग-के ऐश्वर्य सम्पन्न गोविन्द नाम का स्मरण करने लगी। उस समय भगवान तो द्रौपती के समक्ष नहीं आये किन्तु भगवान के नाम ने अपनी महिमा के द्वारा द्रौपदी के लाज की रक्षा करली।

यद्यपि नाम स्मरण करने वाले भक्तों की पुकार सुनकर स्वयं भगवान ही उनकी रक्षा करते हैं फिर भी रक्षा करने की शक्ति मन्त्र को भी प्राप्त है, यह समझना चाहिये। भगवान स्वयं महाभारत के उद्योग पर्व में कहते है कि–दूरस्थ मुझे द्रौपदी ने जो गोविन्द नाम लेकर पुकारा उसके बदले में मैं आकर उसे सान्त्वना तक न दे सका उसका मुझे अत्यन्त खेद है उसके बदले में उपकार करने की चिन्ता मेरे हृदय से उसी प्रकार नहीं निक-लती है जिस तरह किसी बढ़े हुये ऋण की चिन्ता हृदय से नहीं निकलती है।

'गोविन्देति यदाक्रन्दत् कृष्णा मां दूरवासिनम्।
ऋणं प्रवृद्धमिव मे हृदयान्नापसर्पति॥'
(म० भा०उ०प० ४७।२१)

भगवान् के इस वाक्य से भी स्पष्ट है कि द्रौपदी की लज्जा की रक्षा स्वयं भगवान् नहीं करके उनके नाम ने ही करली

सूत्र १७–उच्चारणा क्रममुत्सृज्योच्चारणोऽपि स्वस्वरूपाम

च्यवते ।

अनु०—उच्चारण के क्रम को छोड़कर भी उच्चारण करने पर इसका स्वरूप नष्ट नहीं होता है ।

भा० दी०—अन्य मन्त्रों का स्वभाव है कि वे अपने ऊपर पूर्ण विश्वास एवं श्रद्धा रखने वालों की ही रक्षा करते हैं, किन्तु श्रीमन्त्र इसका अपवाद है । जो लोग इस पर पूर्ण विश्वास एवं श्रद्धा रखते हैं उनकी रक्षा तो यह मन्त्र किया ही करता है किन्तु जिन लोगों का इस पर न तो पूर्ण विश्वास ही है और न तो श्रद्धा ही । फिर भी यदि उसका उच्चारण करते हैं तो उनकी भी रक्षा यह मन्त्र अवश्य करता है । यहाँ तक इसकी महिमा शास्त्रों में बतलायी गयी है कि–साँकेत्यं पारिहास्यं च स्तोभं हेलनमेव वा ।' अर्थात् इस मन्त्र का साँकेत्य, या परिहास्य, या स्तोभ या लीला पूर्वक भी किया गया उच्चारण उच्चारणकर्ता की रक्षा अवश्य करता है सांकेत्य–उच्चारण उसे कहते हैं जहां पर परिभाषिक अर्थ विशेष को बतलाने की इच्छा से कोई उच्चारण किया जाय जिस उच्चारण में अपमान की भावना हो उस उच्चारण को परिहास्य कहते हैं । स्तोभ उच्चारण वह है जिसमें अर्थानुसंधान का क्रम नहीं रहता है । हेलनोच्चारण में जैसे तैसे उच्चारण कर लिया जाता है । हेलनोच्चारण पारिहास्योच्चारण में यह अन्तर होता है कि परिहास्य में अपमान की भावना रहती है किन्तु हेलनोच्चारण में नहीं ।

नीचे के सूत्रों में बतलाया जा रहा है कि यह मन्त्र

अपने अनुसंधान करने वालों को सभी अभिलषित पुरुषार्थ प्रदान किया करता है।

सूत्र १८—अयं खलु 'कुलन्तरुम्' इत्युक्त प्रकारेण सर्वाण्य-पेक्षितानिददाति ।

अनु०—'कुलम् तरुम्' इस श्री सूक्ति के अनुसार यह मन्त्र सभी अपेक्षित वस्तुओं को देता है।

भा० दी०—श्री परकाल सूरि अपने बृहत् सूक्त नामक ग्रन्थ में 'कुलम् तरुम्' यह गाथा गाते हैं। जिसका अभिप्राय है, यह नारायण नाम (मन्त्र) अपने अनुसंधान करने वालों को श्रेष्ठकुल, ऐश्वर्य, सकल दुःख विनाश, परमपद, भगवत्कृपा, भगवदनुभवोपयोगी अपेक्षित शक्ति प्रभृति समस्त पुरुपार्थों को प्रदान करता है' इस तरह सिद्ध हो जाता है कि यह मन्त्र सभी अर्थों को प्रदान करता है।

सूत्र १६—ऐश्वर्यकैवल्य भगवल्लाभकांक्षिणां तान् ददाति ।

अनु—यह मन्त्र ऐश्वर्य कैवल्य एवं भगवान की प्राप्ति चाहने वालों को उन्हीं बस्तुओं को प्रदान करता है।

भा० दी०—इस सूत्र में सांसारिक सुखोपभोगानुकूल सम्पत्ति आदि तथा स्वर्गादि सुखोपभोग को ऐश्वर्य शब्द से कहा गया है। आत्मसाक्षात्कार को कैवल्य कहते हैं और इस संसार को सर्वदा के लिए सर्वथा छोड़कर श्री वैकुण्ठ लोक में भगवान् के नित्य किंकर बनकर उनकी ऐकान्तिक सेवा करने की इच्छा से 'कदाहमैं कान्तिक नित्य किंकरः प्रहर्षयिष्यामि सनाथ जीवितः

इत्यादि प्रकार से कामना को भगवत्प्राप्ति रूप मोक्ष कहा गया है। इन सभी जीवों में से किसी एक की अथवा सबों की प्राप्ति की इच्छा से भगवान् की उपासना करने वाले मन्त्र का जप तथा होम करने वाले लोगों की इच्छा को यह मन्त्र पूर्ण करता है। बृद्धहारीत स्मृति में इसी अर्थ को इस प्रकार से कहा गया है।

'ऐहलौकिकमैश्वर्यं स्वर्गाद्यं पारलौकिकम्।
कैवल्यं भगवन्तं च मन्त्रोऽयं साधयिष्यति ॥'
(बृ० हा० स्मृ० ०।४७)

अर्थात्-यह मन्त्र लौकिकऐश्वर्य, पारलौकिक स्वर्गादि, आत्मसाक्षात्कार रूप कैवल्य तथा भगवत्प्राप्ति को सिद्ध करेगा।

सूत्र २०-कर्मज्ञानभक्तिषु प्रवृत्तानां विरोधिनो दूरीकृत्य ताः पूर्णाः करोति।

अनु०-कर्मयोग ज्ञानयोग एवं भक्तियोग में लगे साधकों के विघ्नों को दूर कर उन योगों को पूर्ण करता है।

भा० दी०-श्रीमद् भगवद्गीता में कर्मयोग ज्ञानयोग एवं भक्तियोग ये तीन ही आत्मोद्धार के मुख्य रूप से साधन बतलाये गये हैं। इनके अनुष्ठानको प्रारम्भ करने पर हमारे अनादिकाल से किये गये कर्मजन्य अविद्या आकर उसमें अनेक प्रकार के अडंगे डालते हैं। श्रीमन्त्र का जप आदि करने से उनके बीच में आने वाले विघ्नों का नाश हो जाता है। तथा वे योग अविकल रूप से पूर्ण हो जाते हैं।

सूत्र २१-प्रपत्तौप्रवृत्तानां स्वरूपज्ञानमुत्पाद्य कालक्षेपस्य

भोगस्य च हेतुर्भवति ।

अनु०-प्रपत्ति में लगे जीवों को स्वरूप ज्ञान उत्पन्न कर उनके कालक्षेप तथा भोग का साधन बन जाता हैं ।

भा० दी०—जिन ज्ञानयोग, कर्मयोग, एवं भक्तियोगों का वर्णन है उनके अनुष्ठान में अत्यन्त कठिनाई है । किञ्च उनका अनुष्ठान भगवान् के अत्यन्त परन्त्र स्वरूप वाले जीवों के स्वरूप का विरोधी है । इस लिए पूर्वाचार्यों ने कर्मयोगादि के अनुष्ठानों में स्वरूप से पन्द्रह प्रकार का विरोध बतलाया है ।

१-जीवनाशकत्व-जीव परमात्मा का शेष है अतएव उनके रक्षण के भी अधिकारी स्वयं भगवान् ही हैं । उनका अनुसंधान किये बिना अपनी रक्षार्थं कर्मयोगादि का अनुष्ठान जीवों के स्वरूप को नष्ट करने वाला ही है ।

२-अयोग्यता-प्रपन्न कर्मयोगादि के अनुष्ठान के लिये अपने को अयोग्य समझते हैं । ३-निष्फलता-भगवान् के परतन्त्र जीवों द्वारा इसका अनुष्ठान निष्फल ही है । ४. अनिष्ठता-ये इष्ट स्वरूप ज्ञानादि के विरोधी होने के कारण अनिष्ट तथा ५-ज्ञान विरोधी ही है । ६. इनके अनुष्ठान करने में अहंकार के भाव मिले रहते हैं । ७. इनका अनुष्ठान स्वाभाविक न होकर औपाधिक है । ८. ९. शेषत्व एवं पारतन्त्र्य के विरोधी भगवान् में ऐकान्तिक भक्ति के नाशक है । ११. प्रपन्नजन इनके अनुष्ठान को उसीतरह पाप प्रवर्धक मानते हैं जिस तरह शत्रु आदि को मारने के लिये किये जाने वाले श्येनादि याग । १२. प्राप्य भगवत् प्राप्ति

के विरोधी हैं तथा १३. पातक रूप हैं । १४. क्योंकि इनको नाथ मुनि, यामुन मुनि आदि पूर्वाचार्यों ने साधन रूप से नहीं स्वीकार किया है । १५. कलिधर्म बहिष्ठता-कलि में भगवन्नामोच्चारण को ही परम धर्म बतलाया गया । अतएव कर्मयोगादि का अनुष्ठान कलिधर्म विरोधी है ।

इन्हीं सब कारणों से प्रपन्नजन प्रपत्ति मार्ग में ही प्रवृत होते हैं । वे कर्मयोगादि का अनुष्ठान नहीं करते । इस मन्त्र के अनुष्ठान करने से अर्थपञ्चक विज्ञान उदित हो जाता है । जिससे प्रपन्नजन पञ्चकालनिष्ठ होकर भगवदनुभव रूप योग की प्राप्ति करते हैं ।

सूत्र २२—'मत्तेलाम्पेशिलुम्' इत्युक्त प्रकारेण ज्ञातव्याः सर्वेऽप्यर्था अस्मिन् सन्ति' ।

अनु०—श्री परकालसूरि प्रोक्त 'मत्तेलाम्पेशिलुम्' गाथा के अनुसार जानने योग्य सभी अर्थ इस मन्त्र में निहित हैं ।

भा० दी०—श्री परकाल सूरि बृहत् सूक्त की 'मत्तेलाम्पे-शिलुम्' गाथा में श्री सूरि ने बतलाया है कि हे भगवन् श्रीमन्ना-रायण आपके श्रीमद् अष्टाक्षर मन्त्र में जानने योग्य सभी अर्थ निहित है ।

सूत्र २३-ते च पञ्चार्थाः ।

अनु०—वे जानने योग्य अर्थ पाञ्च है ।

भा० दी०—मुमुक्षु को जानने योग्य पाञ्च अर्थ है जिन्हें

अर्थपञ्चक कहा जाता है। स्वरूप परस्वरूप, उपायस्वरूप, बिरोधी स्वरूप और फलस्वरूप ये ही अर्थ पञ्चक। सभी शास्त्र एवं शास्त्रों के जानकार महर्षिजन इन्हीं का प्रतिपादन किया करते हैं। श्रीमन्त्र में ये सभी अर्थ विद्यमान हैं। प्रणव जीव स्वरूप को बतलाता है। नमः पद उपाय एवं बिरोधी स्वरूप को बतालाता है। नारायण पद परमात्मा के स्वरूप को बतलाता है तथा नारायण में आयी हुई चतुर्थी विभक्ति फलको बतलाती है इस तरह श्रीमन्त्र में अर्थ पंचक विज्ञान निहित है।

सूत्र २४–पूर्वाचार्या एतदर्थं ज्ञानात् पूर्वम् स्वान् जातान्मन्यन्ते स्म एतदर्थ ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं "३ पिरन्दपिन्मरन्दिलेन्" इत्युक्त प्रकारेण एतदन्येन केनापि कालक्षेप नाकुर्वन्।

अनु०–पूर्वाचार्य श्रीमन्त्र के अर्थ ज्ञान के पहले अपनी वास्तविक उत्पत्ति नहीं मानते और इस मन्त्र के अर्थानुसंधान के हो जाने पर इसको छोड़कर कालक्षेप का दूसरा साधन नहीं अपनाते थे।

भा० दी०–इस सूत्र में पूर्वाचार्य शब्द के द्वारा श्रीनाथमुनि श्रीयामुनाचार्य श्रीरामानुजाचार्य प्रभृति बतलाये गये हैं। ये आचार्य श्रीमन्त्र के अर्थज्ञान के बिना अपने को असत्कल्प मानते थे। उपनिषदों में बतलाया गया है कि जिसे ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता वह नहीं के समान ही है। ब्रह्मज्ञानी ही सत्तावान् हैं

'असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्, अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेदो सन्तमेनम् ततो विदुः'' अतएव ब्रह्मज्ञान ही शास्त्र सम्मत सत् पदार्थ कोटि में गणना का साधकतम है। पूर्वाचार्यों को जब मन्त्रार्थ का ज्ञान हो जाता था तो वे सर्वदा उसका अर्थानुसंधान पूर्वक ही समय बिताया करते थे।

सूत्र २५—वाचकापेक्षया वाचोऽभिनिवेशस्य कारणं ईश्वर एवोपाय उपेयश्चेत्यध्यवसायः।

अनु०—वाचक मन्त्र की अपेक्षा वाच्य ईश्वर में प्रावण्याधिक्य का कारण ईश्वर को ही उपाय और उपेय दोनों माना है

भा० दी—प्रश्न यह उठता है कि यदि मन्त्र ही अपने उपासकों को सम्पूर्ण अभिलषित अर्थ प्रदान करता है, तो फिर आचार्यों को मन्त्र से ही इष्ट पुरुषार्थ को प्राप्त करने की चेष्टा करना चाहिये। किन्तु देखा जाता है कि आचार्यगण मन्त्र की अपेक्षा परमात्मा में ही अधिक श्रद्धा रखते हैं। यह क्यों! तो इसका उत्तर देते हुए श्रीलोकाचार्य स्वामीजी कहते हैं कि मुमुक्षुजन दो प्रकार के होते हैं। १. उपायान्तर जो जीव कर्म योग, ज्ञान योग, भक्ति योग, मन्त्रानुष्ठान आदि को आत्मोद्धार के स्वतन्त्र साधन के रूप में अपनाते हैं। २. भगवन्निष्ठ ये मुमुक्षुजन भगवान् को ही उपाय और उपेय दोनों रूप से मानते हैं। ये जीव कर्मयोगादि के द्वारा आत्मा का उद्धार नहीं करना चाहते और न तो भगवान् को ही प्राप्त करना चाहते हैं। इनका सिद्धान्त है कि उपायान्तरों के अनुष्ठान के द्वारा भगवान् की

प्राप्ति होना असम्भव है। भगवान की प्राप्ति भगवत् कृपा से ही हो सकती है। अतएव वे भगवत प्राप्ति का उपाय भगवान को ही मानते है। ऐसे मुमुक्षुजन श्रीमन्त्र को स्वतन्त्र साधन रूप से नहीं अपनाते। यही कारण है कि वे मन्त्र की अपेक्षा भगवान् में अधिक श्रद्धा किया करते हैं।

सूत्र २६-एतमन्त्र प्रतिपाद्योर्थः स्वरूपम्, स्वरूपानुरूपम् प्राप्यं च इति वा, स्वरूपम् उपायः फलञ्चेति वा।

अनु०—इस मन्त्र के प्रतिपाद्यार्थ दो हैं, स्वस्रूप, तथा उनके अनुरूप फल का स्वरूप, अथवा तीन हैं, स्वस्वरूप, उपाय स्वरूप, फलस्वरूप।

भा० दी०-इस सूत्र में मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय को बतलाते हुए कहा गया है कि इसके द्वारा जीव का स्वस्वरूप बतलाया गया है। जीव को परमात्मा का दास तथा परमात्मा का परतन्त्र बतलाकर जीव का स्वरूप बतलाया गया है। और परमात्मा की सेवा को ही जीव का परमप्राप्य बतलाया गया है, अथवा इस मन्त्र में प्रणव के द्वारा जीव का स्वरूप नमः पद के द्वारा फल की प्राप्ति का साधन और उनके प्राप्य को बतलाया गया।

सूत्र २७-फलस्वरूपं प्रमेयशेखरेऽर्चिरादिगतौ चावदाम।

अनु०-फल स्वरूप का वर्णन मैंने अर्चिरादि मार्ग नामक ग्रन्थ में किया।

भा० दी०–कहने का आशय है कि अर्चिरादि मार्ग नामक ग्रन्थ में यह बतलाया गया है कि किस तरह से मुक्त जीव अर्चिरादि अभिमानी आतिवाहिक गणों के द्वारा सम्मानित होते हुये वैकुण्ठ लोक में पहुँचकर श्री भगवान् का दर्शन करके आनन्दातिशय्य का अनुभव करता है। उसको वहीं देख लेना चाहिये।

सूत्र २८–अयञ्चाष्टाक्षरः पदत्रयात्मकञ्च भवति।

अनु०–इस मन्त्र में आठ अक्षर और तीन पद हैं।

सूत्र २९–त्रीणि च पदानि त्रीनर्थान्वदन्ति शेषत्वं पारतन्त्र्यं कैंकर्यञ्चेति।

अनु०–ये तीनों पद शेषत्व, पारतन्त्र्य और कैंकर्य इन तीन अर्थों के बोधक हैं।

भा० दी०—अर्थात् प्रणव शेषत्व को, नमः पद पारतन्त्र्य को तथा नारायणाय पद कैंकर्य को बतलाता है।

सूत्र ३१–तत्र प्रथमं पदं प्रणवः।

अनु०–श्रीमन्त्र का पहला पद प्रणव है।

सूत्र ३२–स च 'अ' इति; 'उ' इति 'म्' इति चाक्षरत्रयात्मकः

अनु०– प्रणव 'अ' 'उ' 'म' इन तीन अक्षरों से बना है

भा० दी०– प्रणव के दो रूप माने जाते हैं संहित और असंहित। संस्कृत व्याकरण के अनुसार "अ' + 'उ' + म् मिलकर गुण सन्धि होकर "ओम्" बना है इस रूप में ओम् के तीनों अक्षर तीन अर्थों को बतलाते हैं। असंहित रूप से ओम् यह एक ही अक्षर माना जाता है और उसका अर्थ भी एक ही होता है। प्रस्तुत

प्रकरण में ओम् को तीन अक्षरों वाला मानकर ही उसके अर्थ का विचार किया जा रहा है ।

सूत्र ३३–त्रिषु पात्रेषु दधिपूरयित्वा मथित्वा नवनीतस्य उद्धारवत् त्रिभ्यो वेदेभ्यस्त्रीण्यक्षराणि समुद्घृतानि ।

अनु—पृथक २ तीन पात्रों में रखे हुए दधि को मथकर निकालने के समान ही ये तीन अक्षर तीन वेदों से निकाले गये हैं

भा० दी०–ऐत्रेय ब्राह्मण में बतलाया गया है कि ऋग् वेद से भूः यजुर्वेद से भुवः तथा सामवेद से स्वः रूपीशुक्र की उत्पत्ति हुई है । उन शुक्रों को तपाने से तीन वर्णों की उत्पत्ति हुई, अकार उकार और मकार की । उन तीनो को मिलाकर ओम् बना ।

व्या० भूरिति ऋग्वेदादजायत । भुव इति यजुर्वेदात् । सुव इति सामवेदात् । तानि शुक्राण्य तपत् । तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा आजायन्त । अकार उकार मकार इति । तानेकधा समभरत तदेतदोमिति ।"

मनुस्मृति के दूसरे अध्याय में भी कहा गया है कि तीनों वेदों से तीनों व्याहृतियाँ तथा प्रणव के तीनों अक्षर उत्पन्न हुये ।

सूत्र ३४–तस्मादयं सकलवेदसारः ।

अनु–अतएव यह (प्रणव) सभी वेदों का सार है ।

सूत्र ३५–एष्वकारस्सकल शब्द कारणतया नारायणपदसंग्राह्यतया च सकलजगत्कारणं सर्वरक्षकं भगवन्तं वक्ति ।

अनु०–इन तीनों अक्षरों में अकार सम्पूर्ण शब्दों के कारण

होने तथा नारायण पद का संक्षिप्त रूप होने के कारण सम्पूर्ण जगत के कारण एवं सबों के रक्षक भगवान को बतलाता है।

भा० दी०-ओम् में तीन अक्षरों का सन्निवेश बतलाया गया है। उन तीनों अक्षरों में अकार पहला अक्षर है। श्रीविष्णुपुराण (१।५।६३) में बतलाया गया है, कि सृष्टि के आदिमें भगवान् ने वेदों से ही सभी शब्दों का प्रणयन किया अतएव सभी शब्दों के मूल वेद है। उन वेदों की भी उत्पत्ति प्रणव से हुई है और प्रणव का भी मूल अ है इस तरह 'अ' सबों का मूल सिद्ध होता है।

भगवान भी सम्पूर्ण जगत के कारण है। इस तरह वह सम्पूर्ण जगत् के कारण परमात्मा का वाचक है। अतः 'अ' नारायण पद का संक्षिप्त रूप सिद्ध हुआ।। 'अ' शब्द की सिद्धि अव् रक्षणे धातु से होती है। इस तरह 'अ' का अर्थ रक्षक भी हुआ। परमात्मा सम्पूर्ण जगत् के रक्षक, कारण तथा स्वामी हैं। 'अ' उनका वाचक है। इस तरह वह सर्व जगत् का कारण सर्व रक्षक तथा सबों के स्वामी श्री भगवान् को बतलाता है।

सूत्र ३६-रक्षणं नाम विरोधिनिरसनमपेक्षितदानं च ।

अनु०—विरोधी को दूर कर अपेक्षित बस्तु प्रदान करने को रक्षण कहते हैं।

भा० दी०-रक्षा दो प्रकार से होती है। १-रक्ष्यवस्तु के विरोधी को दूर करना तथा २-उसके अनुकूल वस्तु को प्रदान करना

सूत्र ३७-उभयमपीदं चेतनानामधिकारानुगुणं भवति ।

अनु०-ये दोनो भिन्न २ चेतनों के अधिकारानुकूल होते हैं

सूत्र ३८–संसारिणां विरोधि शत्रुपीडादि अपेक्षितान्यन्नपाना-दीनि मुमुक्षूणां विरोधीसंसारसम्बन्ध अपेक्षिता परमपदप्राप्तिः, मुक्तानां नित्यानां च विरोधिनी कैंकर्यहानि अपेक्षिता कैंकर्यवृद्धिः ।

अनु०–संसारी जीवों के बिरोधी शत्रुओं की पीडदि और अपेक्षित अन्न पान आदि होते है मुमुक्षुओ के विरोधी संसार के बन्धन तथा अपेक्षित परम पद की प्राप्ति है । मुक्त एवं नित्य जीवों के विरोधी भगवत् कैंकर्य से चूकना तथा अपेक्षित भगवत् कैंकर्य की वृद्धि है ।

भा० दी०–देहात्माभिमानी बद्ध जीवों के लिए प्रतिकूल बस्तु शत्रु पीड़ा इत्यादि है और उनके लिए अपेक्षित अन्न पानादि शब्दादि भोग्य विषय हैं । वे जीव जो संसार के गर्भवास, जन्म जरा मरण आदि से डरने के कारण संसार के बन्धन से छूटकर परम पद प्राप्त करना चाहते हैं, उन मुमुक्षु जीवों के लिए संसार का बन्धन ही अनिष्ट है तथा उनके लिए इष्ट परम पद की प्राप्ति है । नित्य और मुक्त जीव जो सदा भगवान् के सन्निकट में रहकर भगवान् की ऐकान्तिक सेवा किया करते हैं उनके लिए भगवत् कैंकर्य में कमी होना अनिष्ट है तथा भगवत कैंकर्य की अधिकाधिक प्राप्ति ही अपेक्षित है भगवान इन तीनों प्रकार के जीवों के अनिष्ट को दूर कर उन्हें इष्ट बस्तुयें प्रदान किया करते हैं, अतएव वे सबों के रक्षक है ।

सूत्र ३९–इश्वरादन्ये रक्षका न भवन्तीत्यमुमर्थं प्रपन्नप-

रिपरित्राणेऽवोचाम ।

अनु०-भगवान को छोड़कर दूसरा कोई रक्षक नहीं है इस अर्थ को मैंने प्रपन्न परित्राण नामक ग्रन्थ में कहा है ।

भा० दी०-प्रपन्न परित्राण नामक ग्रन्थ में बतलाया गया है कि वास्तविक रक्षक भगवान ही हैं । माता पिता भाई बन्धु इत्यादि तो रक्षा के साधन मात्र हैं ।

सूत्र ४०—रक्षणकाले श्रीसन्निधरपेक्षिततथात्र श्रीसम्बन्धो-ऽप्यनुसन्धेयः ।

अनु०-रक्षा के समय श्री लक्ष्मीजी का भगवान के सन्निकट रहना अति आवश्यक है अतएव अकारार्थ में श्रीलक्ष्मीजी के सम्बन्ध का भी अनुसंधान करना चाहिये ।

भा० दी०-यद्यपि भगवान् सभी के रक्षक हैं फिर भी स्वतन्त्र होने के कारण अपराधी जीवों के दोषों को देखकर उनकी उपेक्षा कर दे सकते है, अतएव उनके सन्निकट में जीवों का पुरुषकार करने वाली जगन्माता श्री देवी का होना अत्यावश्यक है । श्री देवी वात्सल्यातिरेक के कारण जीवों का निग्रह करना जानती ही नहीं और भगवान को जीवों पर अनुग्रह करने के लिए उन्हें सदा प्रोत्साहित करती रहती हैं जिसके कारण भगवान की निग्रहात्मिका शक्ति दब जाती है और अनुग्रहात्मिका शक्ति उद्दक्त हो जाती है । इस तरह रक्षाके समय अकार वाच्य परमात्मा का श्रीदेवीसे सम्बन्ध का अनुसंधान अवश्य करना चाहिये' इस सूत्र में लक्ष्मीजी का सम्बन्ध न करके श्री देवी का सम्बन्ध कहने

का अभिप्राय यह है कि श्रीशब्द लक्ष्मीजी का असाधारण नाम है। उन्हें श्री शब्द से इस लिए अभिहित किया जाता है कि सभी जीव श्रीदेवी की शरण में जाते हैं और श्रीदेवी भगवान के सन्निकट में स्वयं रहकर सभी जीवों की रक्षा किया करती हैं।

सूत्र ४१-...अत्रभगवत्सेनापतिमिश्रवाक्यम् यदि तद्वक्षः परित्यज्य दूरीभवेत्तदा इदमक्षरं परित्यज्य दूरी भवेत्इति

अनु०-इस विषय में भगवान सेनापति मिश्र का वाक्य है कि-यदि भगवान के बक्षःस्थल को छोड़कर श्रीदेवी दूर रह सकें तो ही इस अक्षरको छोड़कर वे दूर हो सकती हैं। यह अर्थअ नुसंधेय है।

भा० दी०-श्री वत्सचिन्ह मिश्र के शिष्य श्री सेनापति मिश्र थे। उन पर भगवान रामानुजाचार्य का अत्यन्त स्नेह था और वे भगवान रामानुजाचार्य के सन्निकट में ही रहकर श्रुति के अक्षरों के तात्पर्य का पार्यालोचन किया करते थे। उनका कहना था कि जिस तरह अकार भगवान को बतलाता है उसी तरह वह श्री देवी को भी बतलाता है। श्री देवी का स्वभाव है कि वे सदा भगवान के वक्षस्थल में निवास किया करती हैं। "तद् वक्षास्थलनित्यवासरसिकाम्" वे भगवान के वक्षास्थल को छोड़कर जिस तरह अन्यत्र नहीं जा सकती उसी तरह वे अकार का भी परित्याग नहीं कर सकती हैं।

सूत्र ४२-...भर्तुश्शय्या प्रजाया डोलां चापारित्यजन्त्या।

मातुरिव प्रथमं चरमपदे अपरित्यजन्त्यास्स्थितिः ।

अनु॰–जिस तरह माता अपने पतिकी शैय्या, तथा पुत्र के झूले में से किसी एक का भी परित्याग नहीं करती उसी तरह श्री देवी प्रणव के प्रथम अक्षर 'अ' और अन्तिम अक्षर 'म' इन दोनों में से किसी को भी नहीं छोड़ती हैं ।

भा॰ दी॰–प्रणव के तीन अक्षर हैं 'अ' 'उ' 'म' यह बतलाया जा चुका है । 'अ' का अर्थ भगवान हैं । 'म' का अर्थ जीव है यह बतलाया जायेगा । यह भी बतलाया जा चुका है कि श्री देवी का अकार से सम्बन्ध है । इस सूत्र में बतलाया जा रहा है कि श्री देवी का केवल 'अ' से ही सम्बन्ध नहीं है बल्कि 'म' से भी है । जिस तरह कोई माता अपने पति की सेवा के लिए उसकी शैय्या के सन्निकट में रहा करती है और पुत्रों के पालन पोषण तथा सुरक्षा हेतु उनके झूले को भी सदा देखरेख किया करती है उसी तरह श्री देवी का सम्बन्ध भगवान तथा पुत्र स्वरूप जीवों दोनों से रहा करता है। कहने का आशय यह है कि शास्त्रों में तीन तत्व बतलाये गये हैं। जीव ईश्वर और प्रकृति । प्रश्न यह उठता है कि श्रीलक्ष्मी जी इन तीनों में से किस वर्ग में आती है ! चूंकि श्रीदेवी भगवान की प्राणप्रिया पत्नी है तथा जीवों की रक्षा में उनकी सहायता करती है । अतएव उन्हें जीव कोटि में मानना अच्छा नही लगता । उन्हें ईश्वर इस लिए नहीं माना जाता है कि शास्त्रों में ईश्वर एक ही माना गया है । पूर्वाचार्यो का कहना है कि श्रीलक्ष्मीजी

स्वरूपतः चेतन वर्ग में आती है किन्तु सभी चेतनों से श्रेष्ठ होने के कारण उनका अकारार्थ में भी अनुसंधान किया जाता है। इस तरह उनका अकार और मकार दोनों से सम्बन्ध है। श्रीलक्ष्मीजी पुरुषकार (सिफारिस) का काम करतीं हैं और पुरुषकार करने वाले का सम्बन्ध दोनों वर्ग से होना अति आवश्यक है। श्री लक्ष्मीजी भगवान के प्राणप्रिया तथा जीवों की माता होने के कारण दोनों वर्ग के विश्वासपात्र हैं। इस विषय में उदाहरण देते हुए अगले सूत्र में बतलाया गया हैं।

सूत्र ४३– श्री नन्दगोपं कृष्णञ्चापरित्य जन्त्या यशादादेव्या इव।

अनु०—श्रीनन्दगोप तथा श्रीकृष्ण दोनों को नहीं छोड़ने वालीं यशोदा देबी के समान है।

भा० दी०—जिस तरह श्री यशोदा देवी अपने पति श्री नन्द गोप का कभी सम्बन्ध नहीं छोड़ती हैं और न तो अपने पुत्र श्रीकृष्ण का लालन पालन प्रभृत्ति रक्षा का कार्य ही छोड़ती हैं। उसीतरह श्रीलक्ष्मीजी भी न तो श्रीभगवान् का साथ छोड़ती हैं और न तो अपने पुत्रभूत जीवों को ही। श्रीगोदा देबी प्रणीत तिरुप्पावै प्रबन्ध की सत्रहवीं गाथा में गोदा देवी क्रमशः श्रीनन्दगोप, श्रीयशोदाजी श्रीकृष्ण बलदेव जी को जगाती हैं। श्रीनन्दगोपऔरश्रीकृष्ण के बीच में श्रीयशोदादेवी का वर्णनहोने के कारण पता चलता है कि श्री यशोदा देवी का श्रीनन्दगोप तथा श्रीकृष्ण दोनों से सन्बन्ध है।

सूत्र ४४–न खलु कश्चिद् दास्यशासनपत्रलेखन समये गृहिण्यः इति क्रयशासने लिखिति, अथापि गृहिण्याः खलु दासवृत्तिः क्रियते एवमस्माकं लक्ष्मीदास्यम् ।

अनु०–जिस तरह नौकरी शर्तनामा लिखाते समय कोई यह नहीं लिखाता है कि तुम्हें मेरी पत्नी की भी दासता करनी पड़ेगी फिर भी गृह स्वामी के ही समान उसकी पत्नी की भी नौकर को सेवा करनी पड़ती है। उसी तरह जीवों को भी लक्ष्मी की दासता सिद्ध हो जाती है।

भा० दी०–प्रश्न यह उठता है कि शास्त्रों में भी जीवों को भगवान का ही दास बतलाया गया है फिर उन्हें श्रीलक्ष्मी की दासता क्यों करनी चाहिए। इस शंका का समाधान प्रस्तुत सूत्र में एक उदाहरण के माध्यम से बतलाया गया है। जिस तरह किसी भी नौकर को नियुक्त कर इकरारनामा लिखते समय गृहस्वामी यह नहीं लिखता है कि तुम्हें पत्नी की भी सेवा करनी होगी। फिर भी वह नौकर गृह पत्नी की सेवा करता ही है। उसी तरह शास्त्रों में जीवों को भगवान का ही दास बतलाये जाने पर भी भगवान की पत्नी श्रीलक्ष्मीजी का दासत्व जीवों के लिए स्वतः सिद्ध है।

सूत्र ४५–तस्मात् पृथक् स्थितिर्नास्ति ।

अनु०–अतएव श्री भगवान और लक्ष्मीजी एक दूसरे से अलग नहीं रहते हैं।

सूत्र ४६–प्रभाप्रभावतोरिव पुष्पगन्धयोरिव च ।

अनु०–जिस तरह प्रभा प्रभावान द्रव्य से तथा सुगन्धि पुष्प से अलग नहीं रहती उसी तरह ।

भा० दी०—उपर्युक्त कथन की पुष्टि उदाहरणों के द्वारा की गयी है ।

१. जिस तरह प्रभा प्रभावान् द्रव्य से अलग नही होती, प्रभा के ही साथ रहकर द्रव्य प्रभावान् रहता है । उसी तरह श्री लक्ष्मी जो और भगवान एक दूसरे से अलग नहीं होते । श्रीरामायण में श्री सीताजी कहती हैं, मैं भगवान से उसीतरह अभिन्न हूँ, जिसतरह सूर्य से उसकी प्रभा अभिन्न है 'अनन्याराघवेणाहम् भास्करेण प्रभा यथा' श्री भगवान् भी कहते हैं सूर्य की प्रभा के समान सीता मुझसे अलग नहीं हो सकती 'अनन्याहि मया सीता भास्करेण प्रभायथा ।'

२. दूसरा उदाहरण पुष्प और उसकी सुगन्धि का है । जिसतरह फूल और उसकी सुगन्धि आपस में अभिन्न है । उसी तरह श्रीलक्ष्मीजी और भगवान् आपस में अभिन्न है । इस बात को श्री पराशर भट्टर ने श्रीगुणरत्नकोश में भी लिखा है–"प्रसूनं पुष्यन्तीमपि परिमलर्द्धिं जिगदिषुः ।"

सूत्र ४६–तस्मान्मिथुनमिवमुद्देश्यमभवत् ।

अनु०–इस लिए जीवों का उद्देश्य श्री लक्ष्मीजी तथा श्री भगवान दोनों की प्राप्ति है ।

भा० दी०–चूँकि भगवान् तथा श्रीलक्ष्मीजी दोनों साथ ही

साथ रहा करते हैं। अतएव जीवों को दोनों का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये, किसी एक का नहीं। रावण ने केवल लक्ष्मी जी को ही चाहा उसका सर्वस्व नष्ट हो गया। 'रहा न कोऊ कुल रोवनि हारा।' शूर्पनखा ने केवल भगवान को ही चाहा अतएव उसकी नाक कान, काट ली गयी। विभीषण पर भगवान तथा लक्ष्मीजी दोनों की कृपा हुई अतएव उसे राज्य मिला।

सूत्र ३८—अत्र चतुर्थ्यागता लुप्यते स्म।

अनु०—अकार में आयी हुई चतुर्थी विभक्ति का लोप होगया

भा० दी०—नियम है कि न तो केवल प्रकृति का ही प्रयोग करना चाहिये और न तो केवल प्रत्यय का ही। अतएव अकार प्रत्यय विहीन होकर कैसे साधु पद हो सकता है! इस शंका का समाधान है कि अकार मे पहले चतुर्थी विभक्ति आयी थी किन्तु 'सुपाँसुलुक्' इस पाणिनीयानुशासन के अनुसार उस चतुर्थी विभक्ति का लोप हो गया।

सूत्र ४९ ५०—चतुर्थ्यागमः कथमवगत इति चेत्? नारायणपदसंग्रहरूपत्वात्।

अनु०—यदि कहें कि चतुर्थी विभक्ति के आगम का पता कैसे चला! तो इसका उत्तर है कि चूँकि अकार नारायण पद का संक्षिप्त रूप है।

भा० दी०—प्रश्न यह उठता है कि कैसे यह कहा जा सकता है कि अकार में चतुर्थी विभक्ति आकर लुप्त हो गयी है! तो इसका उत्तर है कि अकार मन्त्र के अन्तिम पद नाराणाय का

संक्षिप्त रूप हैं। चूंकि नारायणाय में चतुर्थी विभक्ति देखी जाती है। अतएव उसके संक्षिप्त रूप अकार में भी चतुर्थी विभक्ति का होना आवश्यक है। किन्तु यह देखा जाता है कि वेद में कभी-कभी विभक्ति का लोप हो जाया करता है। उसी तरह अकार में विद्यमान चतुर्थी विभक्ति का 'सुपां सुलुक्' सूत्र से लुक् हो गया है।

सूत्र ५१—अनया ईश्वरस्य शेष इत्युच्यते।

अनु०—इस लुप्त चतुर्थी के द्वारा बतलाया जाता है कि जीव ईश्वर का शेष (दास) है।

भा० दी०—व्याकरण शास्त्र में चतुर्थी विभक्ति के अनेक अर्थ बतलाये गये हैं। प्रस्तुत लुप्त चतुर्थी का भी अर्थ बतलाते हुये कहा जा रहा है कि यहाँ पर तादर्थ्य में चतुर्थी विभक्ति आयी थी। तादर्थ्य का अर्थ है दूसरों के काम में आना। इसी को शेषत्व अथवा दासता भी कहते हैं। अकार का अर्थ है सबों के नियामक तथा सभी में व्याप्त ईश्वर है। इस तरह लुप्त चतुर्थी से युक्त अकार का अर्थ हुआ है कि जीव ईश्वर का दास है। किन्तु दासत्व एवं शेषत्व की एकता लोक में मानी जाती है। शास्त्रों में दासत्व की अपेक्षा शेषत्व को उच्चकोटि को माना गया है

सूत्र ५२ ५३—शेषत्वं दुःखरूपं खलु लोके दृश्यत इति चेत् ? नास्त्ययं नियमः। अभिमत विषये शेषतया स्थितेः सुखरूपतया दर्शनात्।

अनु०—यदि कहा जाय की लोक में शेषता दुःख रूप ही देखी जाती है, तो यह कोई नियम नहीं है क्योंकि लोक में अनुकूल विषय की शेषता सुख स्वरूप ही देखी जाती है।

भा० दी०—यहां पर प्रश्न यह उठता है कि दासता तो दुःख रूप ही होती है, क्योंकि दास बनने में तो दुःख ही दुःख मिलता है कभी सुख मिलता नहीं, सुख तो स्वतन्त्र होने पर ही मिलता है, । अतएव भगवान की दासता सुख स्वरूप है, यह कैसे कहा जा सकता है ! इसका उत्तर है कि दासता या सेवा करना दुःखरूप ही हो ऐसा भी कोई नियम नहीं है। अनुकूल व्यक्ति की सेवा लोक में भी सुख स्वरूप ही देखी जाती है। प्रेमी की सेवा सुखस्वरूप होने के कारण ही प्रेमिका प्रेमास्पद की सेवा करती है। पुत्र की सेवा सुखस्वरूप होने के कारण ही मां पुत्र की सेवा करती है। मुमुक्षु जीवों को भगवान प्रियतम हैं। भगवान से बढ़कर उनका कोई दूसरा प्यारा नहीं, अतएव भगवान की सेवा को मुमुक्षु जीवों के लिए सुख स्वरूप होने में कोई सन्देह नही करनी चाहिये।

सूत्र ५४—अकारेण कल्याणगुणप्रतिपादनादिद च शेषत्वं गुणकृतम् ।

अनु०—अकार के द्वारा भगवान के कल्याण गुण बतलाये गये हैं। अतएव यह शेषता भी गुणमूलक ही है।

भा० दी०—लोक में यह देखा जाता है कि किसी गुणी व्यक्ति के गुण से आकृष्ट होकर लोग उसके सहज ही दास बन

जाते हैं। अकार का अर्थ बतलाते हुए यह कहा गया है कि 'अ' सम्पूर्ण जगत् के रक्षक भगवान् को बतलाता है। भगवान के इसी गुण से आकृष्ट होकर मुमुक्षु जीव भगवान को ही अपना एकमात्र रक्षक मानते हुये उनके दास बन जाते हैं। ऐसा ही एक उदाहरण श्रीरामायण में भी पाया जाता है। श्रीलक्ष्मणजी ने अपना परिचय देते हुये कहा है, यद्यपि हम भगवान राम के छोटे भाई लगते हैं, किन्तु इनके कल्याण करने वाले गुणों पर मुग्ध होकर मैं इनका दास बन गया हूँ। अस्याऽहमवरोभ्राता गुणैर्दास्यमुपागतः'।

सूत्र ५५—शेषत्वमेवात्मनः स्वरूपम्।

अनु०—दासता ही जीव का स्वरूप है।

भा०दी०—केवल भगवान के गुणों से ही आकृष्ट होकर जीव उनके दास बन जायँ ऐसी बात नहीं है. जीव स्वरूपतः ही भगवान् का दास है, यह शास्त्रों में बतलाया गया है। क्योंकि शास्त्रों में जीव एवं ब्रह्म के स्वरूप को बतलाते हुए कहा गया है कि स्वभाव से ही सभी जीव परमात्मा के दास हैं, चाहे वे बद्धावस्था में हों या मुक्तावस्था में।

"दासभुतास्स्वतस्सर्वे" ह्यात्मनः परमात्मनः।
नान्यथा लक्षणं तेषां बन्धे मोक्षे तथैव च"।

अतएव जीवों को सदा इस बात का ख्याल रखना चाहिये कि वे परमात्मा के दास हैं।

सूत्र ५६—शेषत्वाभावे स्वरूपमेव नास्ति।

अनु०–शेषत्व के अभाव में स्वरूप ही नष्ट हो जायेगा।

भा० दी०–यदि हम अपने को भगवान का दास न माने तो फिर हमारा (जीवों का) स्वरूप ही नष्ट हो जायेगा अर्थात् हम असत्कल्प बन जायेंगे।

सूत्र ५७–आत्मापहारो नाम स्वतन्त्रताबुद्धिः स्वतन्त्रतादशायाम् तदसद्भवेत्।

अनु०–अपने को स्वतन्त्र जानना ही आत्मापहारत्व नामक दोष कहलाता है।स्वतन्त्र हो जाने पर जीव असत्कल्प हो जायेगा

भा० दी०–यही नही यदि हम अपने कोभगवान्‌काशेष न मानकर स्वतन्त्र मान बैठेंगे तो फिर आत्मपहार नामक दोष होगा। फिर तो हमारी सता ही समाप्त हो जायेगी और इस तरह हम अपना सर्वस्व ही नष्ट कर देंगे। इस तरह 'अ' रूप प्रकृति का अर्थ हे कि भगवान संपूर्ण जगत् के कारण हैं। अव् रक्षणे धातु से अ की सिद्धि होने से धात्वर्थ हुआ कि अ शब्द वाच्य भगवान् सम्पूर्ण जगत् के रक्षक है। अर्थात् यह भी अर्थ प्राप्त हुआ कि भगवान् ही श्रीलक्ष्मीजी के पति है। लुप्त चतुर्थी का अर्थ है कि भगवान सम्पूर्ण जगत् के शेषी (स्वामी) हैं।

अब प्रणव गत दूसरे अक्षर उकार का अर्थ बतलाया जाता है।

सूत्र ५७–स्थानप्रमाणेनोकारोऽवधारणार्थकः।

अनु०–स्थान प्रमाण के अनुसार उकार निश्चयार्थक है।

भा० दी०-जैमिनिन्यायमाला के श्रुतिलिंग, वाक्य, प्रकरण स्थाननिमाख्यानां' इत्यादि सूत्र में पूर्व पूर्व क्रम से प्राबल्य बतलाये हुए छः अर्थ निर्णायिक प्रमाण बतलाते गये है। वे हैं-श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या। इसमेंस्थानप्रमाण पाँचवां प्रमाण है। प्रस्तुत सूत्र में बतलाया गया है कि स्थान प्रमाण के अनुसार प्रणवगत उकार निश्चायार्थक है। क्योंकि वेदों में देखा जाता है कि उकार का प्रयोग निश्चयार्थक एवकार के अर्थ में होता है, जैसे-'तदुचन्द्रमाः' आदि प्रयोगों में उकार निश्चयार्थक ही है। इसीतरह प्रणवगत उकार निश्चयार्थक ही है।

सूत्र ५९-तेन नान्यस्य शेष इत्युच्यते ।

अनु०-इससे बतलाया जाता है कि जीव परमात्मा को छोड़कर किसी दूसरे का शेष यानी दास नहीं हैं।

सूत्र ६०-श्रीमहालक्ष्म्याश्शेष इत्युच्यत इत्यप्याहुः ।

अनु०-यह भी कहा जाता है कि उकार बतलाता है कि जीव श्रीमहालक्ष्मीजी का शेष है।

भा दी०-प्रस्तुत सूत्र में यह बतलाया जाता है कि यद्यपि स्थान प्रमाण के अनुसार उकार निश्चयार्थक है, किन्तु शास्त्रों में जिसतरह अकार भगवान विष्णु का वाचक माना गयाहै उसीतरह उकारश्रीलक्ष्मी जी का भी वाचक है। अतएव इसके द्वारा जीव श्री लक्ष्मीजी का शेष ही बतलाया जाता है। पञ्चरात्रशास्त्र में बतलाया गया है कि-अकार ज्ञान स्वरूप भगवान विष्णु का वाचक है तथा उकार चित्स्वरुप श्री महालक्ष्मी का और

मकार उन दोनों के शेषभूत जीव को बतलाता है, यही प्रणव का अर्थ है।

अकारश्चित्स्वरूपस्य विष्णोर्वाचक ईष्यते।
उकारश्चित्स्वरूपायाश्श्रियो वाची तथा विदुः॥
मकारस्तु तयोर्दास इति प्रणव लक्षणम्॥

इस तरह उकार को निश्चयार्थक मानने की अपेक्षा श्री महालक्ष्मी का वाचक मानकर जीवों को श्री भगवान् एवं श्री लक्ष्मीजी का शेष भी मानना चाहिए।

सूत्र ६१–ततोऽप्यन्यशेषत्वनिवृत्तिरेव प्रधनाभूता।

अनु०–उसके भी अपेक्षा यही मानना प्रधान है कि उकार अन्यशेषत्व की निवृत्ति करता है।

भा० दी०–यद्यपि पूर्वोक्त सूत्र में कथित विचार भी खन्डनार्ह नहीं है, फिरभी श्रीभगवान् तथा श्रीलक्ष्मीजी का अपृथक सिद्ध सम्बन्ध है ही। अतः भगवत् शेषत्व के द्वारा ही जीव का श्रीलक्ष्मीशेषत्व भो सिद्ध हो जाता है। पुनः उसी अर्थ के के वाचक उकार को मानना पुनरुक्तिदोष ग्रस्ता होगी। उसकी अपेक्षा उकार निश्चयार्थक ही होकर जीव के अन्यशेषत्व की निवृत्ति करता है। जिसका सरलार्थ है कि जीव भगवान् और श्रीलक्ष्मीजी का ही दास है किसी अन्य का नहीं।

सूत्र ६२–देवताशेषभूतस्य पुरोडाशस्य शुने दानमिव ईश्वरशेषस्यात्मवस्तुन संसारीशेषीकरणम्।

अनु०–देवताओं के शेष (भोग्य) भूत पुरोडाश को जिस तरह किसी कुत्ते को दे दिया जाय उसी तरह परमात्मा के शेष भूत जीव को किसी संसारी का शेष मानना हेय है ।

भा० दी०–यज्ञों में देवताओं को हविष्य रूप से देने के लिये एक प्रकार की रोटी बनाई जाती है, उसे कहते हैं पुरोडाश । उस देवताओं के भोग्यभूत पुरोडाश को जैसे अपवित्र कुत्ते को देना अत्यन्त हेय कार्य है, उसी तरह स्वभावतः परमात्मा के शेष भूत जीवों को किसी अन्य संसारी का शेष (दास) मानना हेय है ।

सूत्र ६३ ६४–भगवच्छेषत्वादप्यन्यशेषत्वनिवृत्तिरेव प्रधानभूता । 'मरन्दुम्पुरुन्तोला मान्दर' इत्युक्त त्वात् ।

अनु०–भगवान् का नाम लेना भूलकर भी भगवद् व्यतिरिक्त की सेवा नहीं करने वाले (जीवों को तुम लोग न लाना) इस यमराजोक्ति के अनुसार भगवत् शेषत्व से भी दूसरे के शेषत्व की निवृत्ति ही प्रधान है ।

भा० दी०–श्री लक्ष्मी जी के शेषत्व की अपेक्षा अन्यशेषत्व की निवृत्ति प्रधान है, ऐसी बात नहीं है, अपितु भगवत्शेषत्व की की अपेक्षा भी अन्यशेषत्व की निवृत्ति प्रधान है । अतएव उकार को अवधारणार्थक ही मानना सर्वथा उचित है । श्री भक्तिसार सूरि ने अपने चुतुर्मखान्तादि प्रबन्ध में 'मुरन्दु पुरन्तोला मान्दर' इत्यादि गाथा गाया है । इसका अभिप्राय है कि जो जीव यह भूल गये हैं कि मैं भगवान् का दास हूं । अतएव मुझे सतत भग-

वान के दिव्य नाम, रूप, गुण आदि का चिन्तन करते हुये भगवान की सेवा करनी चाहिये, फिर भी वे किसी संसारी जीव को अपना स्वामी नहीं मानते हैं। ऐसे जीवों के विषय में यमराज ने अपने दूतों से कहा कि तुम लोग उन्हें अपना वशवर्ती न बनाना। इससे स्पष्ट है कि अपने को संसारी जीवों का दास नहीं मानना भगवच्छेषत्व की अपेक्षा प्रधान है, इसलिए उकार अन्य शेषत्व की ही निवृत्ति करता है।

सूत्र ६५--अनेन स्वस्य परेषां वानर्हं-इत्युच्यते ।

अनु०—इस उकार के द्वारा बतलाया जाता है कि जीव न तो अपना भोग्य है और न तो किसी अन्य का।

भा० दी०—जीव स्वभावतः परमात्मा का शेष है। अतएव यदि कहीं भूल से वह अपने को अपना भोग्य समझने लगता है, अथवा किसी दूसरे का अपने को भोग्य समझने लगता है, तो यह दोनों प्रकार की भावना अन्यशेषत्व के ही अन्तर्गत आती है। अतः यह उकार इस दोनों प्रकार के अन्य शेषत्व को दूर करता है और बतलाता है कि जीव न तो अपना भोग्य है और न तो किसी संसारी जीव का।

सूत्र ६६—मकारः पंचविंशाक्षरत्वाज्ज्ञान वाचित्वाच्चात्मानं वक्ति ।

अनु०—प्रणवगत मकार पचीसवाँ अक्षर होने से तथा ज्ञान का वाचक होनेसे आत्मा को बतलाता है।

भा० दी०—प्रणवगत अकार एवं उकार का अर्थ बतलाया

जा चुका है। अब तीसरे अक्षर मकार का अर्थ बतलाया जा रहा है। एकाक्षरी कोष में पञ्च महाभूत, पञ्च कर्मेंद्रियाँ, पञ्च, ज्ञानेन्द्रियाँ गन्धादिपञ्चगुण, मन अहंकर, एवं महत्तत्त्व, 'क' से लेकर 'म' तक केअक्षरों केक्रमशः वाच्य बतलाये गये है। अतएव यह पचीसवांअक्षर मकार पचीसवें तत्त्व आत्मा का वाचक माना जाता है क्योंकि आत्मा को पचीसवाँ तत्त्व 'पंचविंशोऽयं पुरुषः' 'पंच विंश आत्मा भवित' इत्यादि वाक्य बतलाते हैं। किञ्च मकार की सिद्धि ज्ञानार्थक 'मनु अवबोधने' धातु से होती है। अतएव यह ज्ञनगुण वाले आत्मा को ही बतलाता है। तथा आत्मा ज्ञान स्वरूप है, इस अर्थ को 'विज्ञानात्मा पुरुषः' इत्यादि वाक्य बतलाते है। अत एव यह मकार ज्ञानवान् तथा ज्ञानस्वरूप आत्मा को बतलाता है "वृहत् कठिनपददीपिका" नामक ग्रन्थ में म् की सिद्धि निम्न प्रकार से बतलायी गयी है। मन् ज्ञाने धातु से 'उणादयो बहुलम्' सूत्र से अथवा 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' सूत्र से 'डि' प्रत्यय करने पर डित्वात् टि का लोप होने पर 'बहुलं छन्दसि' सूत्र से प्रत्यय का लोप होने पर म् पद की सिद्धि होती है।

सूत्र ६७ ६८–अयं च समष्टिवाची जात्येकवचनम्।

अनु०–यह मकार सभी जीवों का वाचक है। यहां पर जाति के अर्थ में एकवचनान्त प्रयोग हुआ है।

भा० दी०—प्रश्न यह उठता है कि जीव तो असंख्य हैं। अतएव एक वचनान्त प्रणव का मकार किस प्रकार से सभी जीवों का वाचक होसकता है! तो इसका उत्तर है कि बद्ध मुक्त

और नित्य इन तीनों भागों में विभक्त जीव परमात्मा के ही शेष है। मकार उन सवों की समष्टिका वाचक होने से उन्हेंबतलाता है। जैसे यह कहा जाय कि इस खेत का धान पक गया है। इस वाक्य में एकवचनान्त भी धान शब्द जाति का वाचक होने से उस खेत के सभी धानों का वाचक माना जाता है, उसी तरह यहाँ पर एक वचनान्त भी मकार सभी जीवो का वाचक है।

सूत्र ६९ ७०—अनेन आत्मा ज्ञातेति देहाद् व्यावृत्तिरुक्ता भवति। देहाद् व्यावृत्तिस्तत्त्वशेखरे प्रोक्ता।

अनु०—यह मकार आत्मा को ज्ञानवान बतलाकर उसकी शरीर से भिन्नता बतलाता है। आत्मा की देह से भिन्नता तत्त्व शेखर नामक ग्रन्थ में कही गयी है।

भा० दी०-इस ज्ञान के वाचक तथा पचीसवें अक्षर मकार के द्वारा बतलाया जाता है कि आत्मा ज्ञानवान है। कुछ लोग आत्मा को देह, इन्द्रिय, मन, प्राण अथवा धर्मभूत ज्ञान स्वरूप ही मानते है। किन्तु ऐसा न होकर आत्मा स्वयं ज्ञान स्वरूप होते हुये ज्ञान का आश्रय होनेसेज्ञानवान् है।अतः आत्मा देह, इन्द्रिय आदि से भिन्न है, इस अर्थ को आचार्यपाद ने तत्वशेखर नामक ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से बतलाया है। अतएव उसे उसी ग्रन्थ में सविस्तार देखना चाहिए।

सूत्र ७१-सुगन्धेन दीप्त्या च पुष्पं रत्नमिव च शेष इत्यात्मा समाद्रियते, अन्यथा-'उयिरि नाल कुरैवि-

लम्' इत्युक्तप्रकारेण त्याज्यः; तत्सूचनाय (आदौ) शेषत्वमुक्त्वाऽनन्तरमात्मोच्यते ।

अनु०-जिस तरह सुगन्ध के द्वारा पुष्प की और प्रकाश के द्वारा रत्न की शोभा होती है उसी तरह शेषत्व के द्वारा जीवात्मा समाद्रित होता है । यदि आत्मा का गुण शेषत्व नहीं माना जाय तो फिर आत्मा भी 'उयिरिनाल कुरैबिलम्' इस सूक्ति के अनुसार त्याज्य हो जायेगा । इसी अर्थ को सूचित करने के लिए शेषत्व को पहले कहकर फिर आत्मा (रूपी विशेषण) को प्रणव में कहा गया है ।

भा० दी०-किसी भी वाक्य को लिखने की यह प्रणाली है कि पहले विशेष्य को लिखकर उसके पश्चात् विशेषण को कहा जाता है । जैसे-जीव भगवान् का शेष है । इस वाक्य में विशेष्य भूत जीव को पहले लिखकर उसके पश्चात् उसके विशेषण भूत भगवत् शेषत्व को बतलाया गया है । परन्तु प्रणव में इस प्रकार के क्रम को नही अपनाकर इसके बिपरीत ही क्रम को अपनाया गया है । क्योंकि विशेषण के वाचक चतुर्थी विभक्ति से युक्त अकार पहले आया है जो भगवत् शेषत्वरूप अर्थ को बतलाता है, और उसके बाद में विशेष्य भूत जीव का वाचक अक्षर मकार आया है । ऐसा प्रणव का क्रम क्यों हैं ! इस अर्थ को बतलाते हुए श्रीलोकाचार्य स्वामीजी कहते हैं कि, पहले जीव की विशेषता के वाचक चतुर्थी विभक्ति से युक्त पद अकार आकर इस अर्थ को सूचित करता है कि-जीव का प्रधान गुण भगवच्छेषत्व है । प्रणव

के द्वारा आत्मा की दो प्रमुख विशेषतायें बतलायी गयी है-भगवच्छेषत्व और ज्ञानगुणकत्व । इसी अर्थ को सूचित करने के लिये पहले शेषत्व बतलाया गया है और बाद में ज्ञानगुणकत्व ।

सूत्र ७२—इत्थं च प्रणवेन कण्णपुरमोरुडैयानुक्कुडियेनोरु-वक्कुरियेनो इत्युक्त प्रकारेण जीवपरसम्बन्ध उक्तः ।

अनु०—इस प्रणव के द्वारा 'श्रीकृष्णपुर के नाथ भगवान का ही शेष, मैं क्या कभी किसी दूसरे का दास बन सकता हूँ! इत्यादि श्री परकाल सूरि की गाथा के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा में होने वाले सम्बन्ध को बतलाया गया है ।

भा० दी०—सूत्र में उल्लिखित गाथा श्री परकाल सूरि प्रणीत् बृहत्सूक्त नामक दिव्य प्रबन्ध का है इसमें श्री सूरि ने जीवों को केवल परमात्मा का ही भोग्य बतलाकर प्रणव निहित सम्पूर्ण अर्थों को व्यक्त किया है । इस गाथा में श्री सूरि ने रक्षकत्व रूप अकारार्थ को ज्ञातृत्वरूप मकारार्थ को तथा दोनो से सम्मिलित रक्ष्य-रक्षकभाव रूप अर्थ को तथा ज्ञातृज्ञेयभाव को भी अर्थतः बतलाया है ।

सूत्र ७३—एतेन 'नामरैयाल केवल क्नोरुडनैये नोक्कुणावु' इत्युक्तं भवति ।

अनु०—यह अर्थ सरोयोगी प्रणीत गाथा 'ज्ञानाश्रय आत्मा श्रीलक्ष्मी पति को ही अपना लक्ष्य बनाता है'-इस श्री सूक्ति में भी कहा गया है ।

भा० दी०—सूत्रोक्त गाथा श्री सरोयोगी के मुदलतिरुवन्दादि

नामक ग्रन्थ की ६७ वीं गाथा है। इसमें भी श्री सूरि ने प्रणव के सभी अर्थों को बतलाया है।

सूत्र ७४—अकारेण मकारेण च रक्षको रक्ष्यश्चोक्तः चतुर्थ्या उकारेण च रक्षणहेतुभूतप्राप्तिः फलञ्चोक्तम्।

अनु०—प्रणव के अकार एवं मकार के द्वारा रक्ष्य रक्षक भाव रूप सम्बन्ध को बतलाया गया है।

भा दी०—पहले के दो सूत्रों में प्रणव के वाक्यार्थ को बतलाते हुये लुप्त चतुर्थी का मुख्यार्थ शेषत्व बतलाया गया है। रक्षणार्थक अव् धातु से बने 'अ' का अर्थ रक्षक माना गया है। और मकारार्थ जीव रक्षक भगवान का रक्ष्य है। भगवान् जीवों की रक्षा इसलिये करते हैं कि जीव भगवान् का शेष (सम्पत्ति) है और अपनी सम्पत्ति को सम्भालना स्वामी का कर्तव्य होता है। इस तरह शेषत्व का वाचक चतुर्थी रक्षण का कारण बतलाती है।

सूत्र ७५ ७६—इत उपरि प्रणवो विव्रियते। उकारं विवृणोति नमः शब्दः, अकारं विवृणोति नारायण-पदम् मकारं विवृणोति चतुर्थी नारपदमित्यप्याहुः।

अनु०—इसके बाद प्रणव का विवरण किया जाता है। उकार का विवरण नमः पद, अकार का विवरण नारायण पद, मकार का विवरण चतुर्थी विभक्ति तथा नार पद भी है, यह आचार्यों का कहना है।

भा० दी०—अब तक श्री मन्त्र के प्रणव के अर्थ का विवरण

बतलाया गया है। अब मन्त्र शेष का विवरण किया जाता है। जिस अर्थ को संक्षेपतः प्रणव बतलाता है, उसी को मन्त्र शेष भी बतलाता है। इस तरह प्रणव तथा मन्त्र शेष में विवरण तथा विवरणी रूप सम्बन्ध है। प्रणव विवरणी है और मन्त्र शेष उसका विवरण। मन्त्र शेष का प्रथम 'नमः' पद उकार का विवरण है, जो अन्य शेषत्व तथा स्वशेषत्व की निवृत्ति को बतलाता है। नारायण पद अकार का विवरण है, जो रक्ष्य के स्वरूप तथा रक्षक परमात्मा के कल्याण गुण रक्षण प्रकार को भी बतलाता है। नारायण पद के साथ आयी हुई चतुर्थी विभक्ति का अर्थ कैंकर्य की प्रार्थना है जो जीव के भगवच्छेषत्व का अर्थ है। कैंकर्य प्रार्थना ही शेष का काम है, क्योंकि उसके अभाव में शेषत्व की सुरक्षा असम्भव है। इस तरह मकार वाच्य जीव के शेषत्व प्रार्थना को चतुर्थी विभक्ति बतलाती हैं तथा जीव के बहुत्व नित्यत्वादि की सूचना नारायण पद के नार खण्ड का अर्थ है, यह आचार्यों का अभिप्राय है।

अब प्रश्न यह उठता है कि मन्त्रशेष के द्वारा प्रणव के क्रमशः अक्षरों की व्याख्या न कर पहले उकारार्थ का ही स्पष्टीकरण क्यों किया गया ! तो इसका उत्तर देते हुए श्रीलोकाचार्य स्वामी जी कहते हैं-

सूत्र ७७—क्रमेण विवरणं विरोधिनाशानन्तरमनुभाव्यत्वात्।

अनु०—विरोधी का नाश होने पर ही भगवत्स्वरूप के अनुभाव्य होने के कारण क्रम से विवरण न करके सर्व प्रथम उकारार्थ

का विवरण मन्त्र शेष के नमः पद के द्वारा किया गया है ।

सूत्र ७८—नमः शब्दो--'न' इति 'म' इति च पदद्वयात्मकः ।

अनु०—न और 'म'इन दो पदों को मिलाकर नमः पद बना है।

भा०—दी०—नमः पद को सिद्धान्त में दो प्रकार का स्वी-किया जाता है । सखण्ड और अखण्ड । सर्वप्रथम सखण्ड नमः पद का अर्थ बतलाने के लिये कहा गया है कि नमः पद 'न' और 'म' इन दो पदों का संयुक्त रूप है।

सूत्र ७९ ८०-'म' इत्यनेन स्वार्थत्वमुच्यते' 'न' इत्यनेन तन्निषिध्यते, एवञ्च 'नमः' इत्यनेन स्वतन्त्रो नेत्युच्यते ।

अनु०-'म' का अर्थ मेरा है और नकार उसका निषेध करता है । इस तरह नमः पद बतलाता है कि जीव स्वतन्त्र नहीहै

भा० दी०-म् आत्मा का वाचक है, उसका षष्ठी विभक्ति में रूप मः बनता है । इस तरह मः का अर्थ हुआ मेरा और न पद निषेधार्थक है । इस तरह दोनो पदों का अर्थ हुआ जीव अपने लिए नही है । फलत, 'नमः' पद के द्वारा जीव के स्वातन्त्र्य का निषेध करके उसको परमात्मा कापरतन्त्रबतलायागयाहै ।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि नमः पद के द्वारा अन्य शेषत्व का निषेध न करके स्वशेषत्व का निषेध क्यों किया गया है ! इसका उत्तर देते हुए श्रीलोकाचार्य स्वामीजी कहते हैं ।

सूत्र ८१- अन्य शेषतादशायां स्ववैलक्षण्यज्ञापनेन निवर्तयितु शक्यते; [illegible] दशायां [illegible]ताऽपि

नश्यति ।

अनु०-अन्य का शेष होने पर तो जीव को अपनी विलक्षणता बतलाकर भगवान अपनी ओर आकृष्ट कर सकतेहैं किन्तु स्वशेषता दशा में तो जीव की वह योग्यता भी नष्ट हो जाती है

भा० दी०-अर्थात् यदि जीव किसी देवतान्तर आदि का दास बन जाय तो-उसे यह बतलाया जा सकता है कि भगवान श्रीमन्नारायण ही सर्वाधिक ऐश्वर्यशाली तथा सभी पुरुषार्थों के प्रदाता हैं ।उन्हीं की कृपा से दूसरे देवता अपने-अपने भक्तों को किसी फल को प्रदान किया करते है । वे देवगण क्षुद्र फल प्रदाता है। अतएव सर्वात्मना भगवान की ही सेवा करनी चाहिये । इस बात को सुनकर वह देवतान्तर भक्त भी भगवान का शेषत्व स्वीकार कर सकता है । किन्तु यदि कोई यह समझ ले कि मैं स्वतन्त्र हूँ । मैं दूसरे किसी को क्यों सिर झुकाऊँ । मुझसे बढ़कर कौन है ! उस स्थिति में उसे भगवान् का भक्त बनना मुश्किल होगा । और ऐसे जीव का भी कल्याण नहीं हो सकता। अतएव देवतान्तर शेषत्व की अपेक्षा स्वशेषत्व अधिक हानिकारक है । इसीलिए नमः स्वशेषत्व का वारण किया करता है ।

सूत्र ८२-अनेन विरोधी निवर्त्यते, ८३ विरोधिनस्त्रयः स्वरूप विरोधी, उपायविरोधी प्राप्यविरोधी चेति ।

अनु०—इस नमः पद के द्वारा विरोधी की निवृत्ति बतलायी गयी है । विरोधी तीन हैं स्वरूप विरोधी,, उपाय विरोधी और प्राप्य विरोधी ।

भा० दी०—नमः शब्द के द्वारा ममकार की निवृत्ति बतलायी गयी है, यह पहले कहा जा चुका है। यह ममकार जीव स्वरूप, उपायस्वरूप एवं पुरुषार्थ स्वरूप तीनों में हो सकता है। अतएव नमः शब्द तीनों प्रकार के ममकार की निवृत्ति को बतलाता है। श्रीमन्त्र में तीन पद हैं,ॐ नमो नारायण। नमः पद का इन तीनों पदों के साथ अन्वय होता है। ॐ नमः, नमो नमः, नारायणाय नमः। प्रणव के अर्थभूत भगवत् शेषत्व के विरोधी जीव के अहंकार और ममकार हैं। उनकी निवृत्ति ॐ नमः के द्वारा होती है। नमः शब्द सर्वथा भगवत् पारतन्त्र्य को बतलाता है। अर्थात् जीव को चाहिए कि वह भगवान् को ही अपना रक्षक समझे। वह भगवान का ही एक मात्र शेष (दास) होने से भगवान का ही एक मात्र रक्ष्य है। अपनी रक्षार्थ चेतन के द्वारा की जाने वाली स्वकीय प्रवृत्ति ही उसका विरोधी है। अतएव उसकी निवृत्ति नमो नमः से की जाती है। नारायण पद भगवत्कैंकर्य रूप फल को बतलाता है। कैंकर्य में स्वार्थ बुद्धि का होना ही विरोधी है। नारायणाय नमः के द्वारा इसी स्वार्थ बुद्धि की निवृत्ति की जाती है।

सूत्र ८५-स्वरूपविरोधि निवृत्तिर्नाम 'याने नी एन्नुडै मैयुम् नीये' इति स्थितिः, उपायविरोधिनिवृत्तिर्नाम 'कलेशाय तुन्यम् कलैयादोलिवाय कलेंकण मत्तिलेन् इतिस्थितिः प्राप्यविरोधिनिवृत्तिर्नाम "मत्तै नम् काम-

ङ्गल मात्तु' इति स्थितिः ।

अनु०—श्री शठकोप सूरि प्रणीत सहस्र गीति की (२।९।१।) गाथा यानेनी' इत्यादि में उक्त स्थिति ही स्वरूप विरोधी की निवृत्ति है । सहस्रगीति के ही (५।८।८) गाथा कलैवाय तुन्बम्' इत्यादि में बतलायी गयी स्थिति ही उपाय बिरोधी की निवृत्ति है । तिरुप्पावै प्रबन्ध की २९ वीं गाथा "मत्तै नुम्' इत्यादि में बतलायी गयी स्थिति ही प्राप्य विरोधी की निवृत्ति है ।

भा०- दी०—८४ वें सूत्र में यह बतलाया गया है कि 'नमः' पद का श्री मन्त्र के तीनों पदों के साथ अवन्य करके त्रिविध विरोधियों की निवृत्ति बतलायी जाती है । अतएव प्रकृत सूत्र में उन विरोधी निवृत्तियों के स्वरूप का निरूपण किया जाता है । श्री शठकोपसूरि सहस्र गीति की १।६।९ गाथा-'याने नी' इत्यादि में कहते हैं कि-प्रभो अपने स्वरूप को न जानने के कारण मैं अहंकार और ममकार में मग्न हो गया था । अब मैं समझ गया कि मैं तथा मेंरी सभी बस्तुएँ आपकी ही हैं । न तो मैं अपना हूँ और न तो मेरी वस्तु ही अपनी हैं । प्रकृत गाथा में स्वरूप विरोधी अहंकार और ममकार का निरास श्री सूरि करते हैं । इस तरह अपने को सर्वथा भगवत् भोग्य मानना ही स्वरूप विरोधी की निवृत्ति कहलाती है । सहस्र गीति ५।८।८ में श्रीसूरि 'कलैनव्य् तुन्वम्' गाथा को गाते हैं । इस गाथा में श्रीसूरि कहते है कि-हे कुम्भकोणम् के नाथ भगवन् आप अपनी इच्छानुसार मेरा दुःख दूर करें या न करें मैं आप को छोड़कर किसी दूसरे

को अपना रक्षक नहीं मानूंगा।" इस गाथा में श्री सूरि एक मात्र भगवान को ही जीवो का रक्षक बतलाते है। इस तरह को स्थिति ही उपाय विरोधी की निवृत्ति कहलाती है। भगवत् सेवा में ही अपने आनन्द प्राप्ति की इच्छा का लेशमात्र भी परमात्म सेवा में विषमता उत्पन्न कर देती है। अतएव भगवान की सेवा भी भगवन्मुखोल्लास हेतु ही करनी चाहिये अपनी प्रसन्नता के लिये नहीं। जैसा की तिरुप्पावै प्रबन्ध की २९ वी गाथा 'मत्तैनम् काम-ङ्गल् मान्' में श्री गोदा देवी कहती है। हे गोविन्द हम सातो जन्म में आपके ही साथ रहेंगी और आपको ही सेवा करेंगी। एतदविरुद्ध हमारी सारी कामनाओ को आप ही कृपा करके छुड़ा दीजिये।' इस तरह निस्स्वार्थ परमात्म सेवन की भावना ही प्राप्य विरोधी की निवृत्ति कहलाती है।

सूत्र ८६–'म' इत्युक्तिः स्वरूपनाशः 'नमः' इत्युक्तिः स्वरूपोज्जीवनम्'।

अनु०–म' कहना स्वरूप का नाशक है और नमः कहना स्वरूप का उज्जीवन।

भा० दी०-उपर्युक्त सूत्र में तीन प्रकार की विरोधियों की निवृत्ति पृथक् पृथक बतलायी गयी है। प्रस्तुत सूत्र मे तीनों की निवृत्ति समवेत रूप से वतलायी जा रही है। 'म' अहंकार और ममकार दोनों को सूचित करता है। स्वविषयणी ममता अहंकार कहलाती है। स्वेतर समस्त वस्तुओं में होनेवाली ममता ममकार कहलाती

है। और इन दोनों प्रकार की ममताओं को 'मः' पद सूचित करता है। इस तरह 'मः' पद वाच्य अहंकार और ममकार आत्मा के ही स्वरूप को नष्ट करके उसको असत्कल्प (नहीं के समान) बना देते हैं। किन्तु 'नमः' पद के अर्थ का अनुसंधान आत्मोज्जीवन करके उसे कल्याण मार्ग पर प्रवृत्त होने के लिए प्रोत्साहित करता है।

सूत्र ८७–'इदम्' स्वरूपमुपायंफलञ्च प्रकाशयति।

अनु०–यह नमः पद स्वरूप को, उपाय को तथा फल को भी प्रकाशित करता है।

सूत्र ८८–'तुलं विल्लिमङ्गलम् तोलुम्' इत्युक्तत्वात् एवं-रूपमुक्तम्, 'वेङ्कडत्तुरै वाक्कु नमः' इत्युक्त्याउपाय उक्तः, 'अन्दि तोलुम् शोल्' इत्युक्तत्वात् फलमुक्तम्।

अनु०–देवेशस्थल को नमस्कार हैं। यह कहकर श्री शठको-पनायिका ने आत्मा के स्वरूप को बतलाया है। श्री वेङ्कटेश को नमस्कार है, यह कहने वाले के सभी पाप नष्ट हो जाते है। इस सूक्ति के द्वारा उपाय को बतलाया गया है। 'अन्तिम दशा में नमः-नमः की उक्ति' यह कहकर फल को बतलाया गया है

भा० दी०–श्रीशठकोपसूरि सहस्रगीति के (५।५।१) गाथा में सखी भावना से प्रोषित भर्तृका रूपी नायिका की दशा को बतलाते हुए कहते है कि, हे देवस्थल दिव्यदेशस्थ (अल्वार तिरुनगरी के निवासी भगवन् यह शठकोप नायिका आपको नम-

स्कार करती है। इस गाथा के विषय में आचार्यों का अभिप्राय यह है कि श्रीशठकोपनायिका अपने अभिमत दिव्यदेश में न जाकर वहाँ के भगवान् का भोग्य अपने को मानती है। इस तरह अपने को भगवान् का ही शेष मानना जीव का स्वरूप है। इस गाथा का नमः पद आत्म स्वरूप यायात्य को बतलाती है।

दूसरी गाथा में कहा गया है कि वेङ्कटाचल वासी को नमस्कार है। यहाँ पर प्रयुक्त नमः पद उपाय को बतलाता है और गाथा का अभिप्राय है कि एकमात्र भगवान को ही अपना रक्षक मानना चाहिए।

तीसरी गाथा में प्रयुक्त नमः पद फल का प्रकाशन करता है। इस गाथा का अभिप्राय है कि मुक्तावस्था में जब जीव को अत्यन्त भगवत्कैंकर्य रूपी फल की प्राप्ति हो जाती है, उस समय वह नमः-नमः इस पद का सतत उच्चारण करने लगता है। जो फल स्वरूप की अक्षुण्णता को बतलाता है। इस तरह अखण्ड नमः पद भी आत्म स्वरूप, उपाय स्वरूप एवं फल स्वरूप का प्रकाशन किया करता है।

सूत्र ८९–'उत्तदु मुन्नडियार्कबुडिमै' इत्युक्तप्रकारेणात्र भागवत शेषत्वमनुसन्धेयम् ।

अनु०–'भगवन्! आपके दासों की दासता मुझे मिल गयी, इस परकाल सूरि की सूक्ति के अनुसार यहाँ पर भागवत् शेषत्व का भी अनुसंधान करना चाहिये।

भा० दी०–नमः पद अहंकार और ममकार की निवृत्ति को बतलाता है। और इन दोनों दोषों की निवृत्ति की चरम परिणति भगवान के भक्तों का दास अपने को मान लेने में होती है। श्री परकाल सूरि अपने वृहत सूक्त नामक गन्थ में 'उत्तदु' इत्यादि गाथा को गाते हैं। श्री सूरि के इस गाथा का अभिप्राय है कि 'हे कृष्ण पुराधीश्वर प्रभो आपके अष्टाक्षर मन्त्र का अभ्यास करके मैंने आपके दासों की दासता प्राप्त कर ली।

सूत्र ६०–इदमकारे इत्यप्यहुः उकारे इत्यप्याहुः।

अनु०–कुछ आचार्य भागवत शेषत्व को अकार में तथा कुछ आचार्य उकार में मानते हैं।

भा० दी०–कुछ आचार्यो का कहना है कि भगवत् शेषत्व के प्रतिपादक लुप्त चतुर्थी वाले अकार में ही भागवत् शेषत्व का भी अनुसंधान करना चाहिये। कुछ आचार्यों का अभिप्राय है कि अन्य शेषत्व के निवर्तक उकारार्थ में ही भागवत् शेषत्व का अनुसंधान करना चाहिये। अन्य शेषत्व निवृत्ति का अर्थहै कि। भगवत्शेषत्व से भिन्न के शेषत्व की निवृत्ति को उकार बतलाता है। श्रीवरवरमुनि स्वामीजी का अभिप्राय है कि यद्यपि अकारार्थ अथवा उकारार्थ में भी भागवत् शेषत्व के अनुसंधान का सन्निवेश किया जा सकता है, फिर भी अहंकार एवं ममकार को मिटा कर शेषत्व के आपादक नमः शब्दार्थ में ही भागवत् शेषत्व का अनुसंधान करना चाहिये।

सूत्र ९१–ईश्वरः स्वस्मा एव भवति, क्वचित् परस्मा एव

भवति' आत्माऽस्मै परस्मै च भवति, इति पूर्वं ज्ञातम्, नैवम् अचिद्वत् स्वार्थमेव मामङ्गी कुरुस्वेति नमसा।

अनु०—नमः पद के अर्थ ज्ञान से पहले यह ज्ञान रहता है कि ईश्वर केवल अपने लिये, प्रकृति केवल दूसरे के लिये तथा जीव अपने लिये तथा दूसरे के लिए होता है। नमः शब्द के द्वारा यह ज्ञात होता है कि हे भगवान् जड़ पदार्थों के ही समान मुझे भी जड़ पदार्थ ही समझकर केवल अपने ही उपभोग के लिये स्वीकार करें।

भा० दी०—जब तक नमः पदार्थ का ज्ञान नहीं होता है तब तक सामान्यतः यही ज्ञात होता है कि ईश्वर स्वार्थ, जड प्रकृति परार्थ तथा जीव स्वार्थ एवं परार्थ दोनों होता है। जड वस्तुयें अचेतन होती हैं अतएव वे अपना अपने ही उपभोग नहीं कर सकतीं, उनका उपभोग करने वाला कोई दूसरा ही होगा। अतएव वे परार्थ ही होती हैं। ईश्वर सबों के स्वामी हैं, अतएव वे स्वरार्थ ही होंगे। जीव चेतन होने के कारण अपने स्वरार्थ के लिए भी प्रवृत्त होता है और अपने स्वामी परमात्मा की सेवा के लिए भी प्रवृत होता है, अतएव वह स्वार्थ एव परार्थ दोनों प्रकार का माना जाता है। किन्तु जब नमः पदार्थ का ज्ञान हो जाता है तब वह जानता है कि मैं अपने उपभोग के लिए भी नहीं हूँ। अतएव वह भगवान् से प्रार्थना करता है कि हे भगवन् मै तो

आपका शेष हूं, अतएव आप अपनी ही वस्तु समझकर अपनी अन्य अचित् वस्तुओं के ही समान अपनी इच्छा के अनुसार जिस किसी सेवा में मुझे भी लगा लें।

सूत्र ९२–तच्च भोगदशायां ईश्वरे नाशयति, रक्षणीय-मित्यनाशनम् ।

अनु०–अर्थात् भोगदशा में यदि भगवान् शेषत्व को नष्ट करना चाहें, हमें उस भोग्य को नष्ट नहीं करना चाहिये।

भा० दी०–भगवान् की शरणागति करके सभी पापों से मुक्तहोकरजीव जब अर्चिरादिमार्गसेपरमात्मासन्निकट में'अहमन्नमहम-न्नम्' अर्थात् मैं परमात्मा का भोग्य भूत हूँ, इस प्रकार का सामा-म्नान करता हुआ जाता है, उस समय अपने आत्मभूत मुक्त जीव के आगमन से अत्यन्त प्रसन्न परमात्मा हर्ष-प्रकर्ष के कारण उसे उसी प्रकार से अपनी गोद में उठाकर रख लेते हैं, जिस तरह कोई पिता अपने बहुत दिन से बिछुड़े हुए पुत्र को पाकर उसे सहसा गोद में उठा लेता है, और कभी कभी अपने कन्धे पर भी चढ़ा लेता है। इस स्थिति में जीव यदि नमः शब्दार्थ का स्मरण करके यह सोचे कि मुझे तो भगवान के चरणों में ही रहना चाहिये। अतएव यदि वह परमात्मा के शिर से उतर कर उनके चरणों में ही आना चाहे तो भगवान के भोग में विरसता आ जायेगी। अतएथ उस समय अपने को भगवत्परतन्त्र समझकर भगवान जिस तरह रखना चाहें उसी तरह से बने रहना चाहिये।

सूत्र ९३–नाशनहेतुः पूर्वमुक्तः उपरिष्टाद् वक्ष्यते च ।

अनु०—नष्ट कराने का हेतु पहले कहा जा चुका है और आगे भी कहा जायेगा ।

भा० दी०—भगवान यदि अत्यन्त व्यामोह के कारण उस तरह का प्रेम करने लग जाँय उस समय जीव अपने शेषत्व स्वरूप का अनुभव करके तथा चतुर्थी विभक्ति के अर्थ किंकरत्व की भावना के कारण, भगवान् के द्वारा दिया गया उतने उच्च आसन को पाना उचित न समझे, तो भगवान के आनन्द में वैरस्य होगा । उस शेषत्व को पहले अकारार्थ निरूपण में कहा जा चुका है तथा चतुर्थ्यर्थ निरूपण में आगे कहा जायेगा ।

सूत्र ९४—एतज्ज्ञानोत्पत्तौ सत्यामेव कृतकृत्यो भवति, एतज्ज्ञानाभावे सर्वाणि च दुष्कृतानि भवन्ति, अस्मिन् ज्ञाने सर्वाणि च सुकृतानि सन्ति, एतज्ज्ञानेन विना क्रियमाणानि यज्ञादीनि प्रायश्चित्तादीनि निरर्थककानि । अनेन सर्वाणि पापानि नश्यन्ति, सर्वाणि च फलानि भवन्ति ।

अनु०—इस पारतन्त्र्य का ज्ञान उत्पन्न होने पर ही जीव कृतकृत्य होता है । इस ज्ञान के अभाव में वह सभी पापों को करता है, इस ज्ञान के हो जाने पर उसके सभी पुण्य हो जाते हैं । इसके अभाव में किये गये सभी यज्ञ आदि तथा प्रायश्चित्तादि व्यर्थ हैं । इस ज्ञान के द्वारा सभी पाप नष्ट हो जाते हैं और सभी फल प्राप्त हो जाते हैं ।

भा० दी०—जीवन की सफलता श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में यही मानी जाती है कि नमः शब्द के परम तात्पर्य भूत भगवत्भागवत् पारतन्त्र्य की भावना अपने में आ जाय। इस ज्ञान के अभाव में जीव आत्मापहार रूपी सबसे बढ़कर पाप करता है। और परमात्मा के मुखोल्लास के हेतुभूत उपर्युक्त ज्ञान का हो जाना ही जीवन का सबसे बड़ा सुकृतानुष्ठान है। इस ज्ञान के अभाव में शास्त्रानुसारी भी किये गये सभी यज्ञादि तथा प्रायश्चित्तादि का अनुष्ठान व्यर्थ है। इस भागवत भगवत् पारतन्त्र्य रूपी ज्ञान के द्वारा जन्म जन्मान्तर केकिये हुये सभी पाप नष्ट हो जाते हैं और चतुर्वर्ग फल तथा भगवत् कैंकर्य प्राप्ति पर्यन्त सभी फल मिल जाने हैं। अतएव भगवत् भागवत् पारतन्त्र्य का ज्ञान होना अत्यावश्यक है।

सूत्र ९५ ९६—नारायण इत्यस्य नाराणामयनमित्यर्थः। नाराणि नित्यवस्तूनां समुदायः।

अनु०—श्री मन्त्र का तीसरा पद नारायणाय है। नारायण का विग्रह है नारों का अयन। नित्य वस्तुओं के समूह को नार कहते हैं।

भा० दी०—नारायण पद का विग्रह दो प्रकार से होता है। नाराणाँ अयनम् तथा नारा अयनं यस्य। परन्तु पहले तत्पुरुष समास वाले विग्रह का अर्थ बतलाया गया है। नार नित्य वस्तुओं के समूह को कहते हैं। नर' में दो पद हैं न और र। रिङ् क्षये धातु से कर्ता में डप्रत्यय होकर अनुबन्ध लोप होकर रियते (नष्ट

होने वाला) इस अर्थ में रः बनता है। और जो नहीं नष्ट हो उसे नरः कहते हैं। अर्थात् नरः पद नित्य पदार्थ का वाचक है, और नार पद नित्य पदार्थों के समूह को बतलाता है।

सूत्र ९७—ते च--ज्ञानानन्दामलत्वादयः; ज्ञानशक्त्यादयः, वात्सल्यसौशील्यादयः दिव्यविग्रहाः, कान्तिसौकुमार्यादीनि, दिव्यभूषणानि, दिव्यायुधानि; महालक्ष्मीप्रभृतयो महिष्यः, नित्यसूरयः, छत्रचामरादीनि; द्वारपालकाः, गणाधिपाः, मुक्ताः, परमाकाशम्, प्रकृतिः, बद्धात्मानः, कालः, महादाद्याः, किंकराः, अण्डानि अन्डान्तर्गता देवादिपदार्थाश्च।

अनु०—वे नित्य पदार्थ ये हैं--ज्ञान, आनन्द, अमलत्व आदि ज्ञानशक्ति आदि, वात्सल्य, सौशील्य आदि भगवान् के दिव्य मंगल विग्रह, कांति सौकुमार्य आदि, दिव्य आभूषण, दिव्य आयुध, श्री महालक्ष्मी आदि दिव्य पटरानियां, नित्यसूरि, छत्र चामर आदि द्वारपालक, गणाधिप, मुक्त जीव, परमाकाश, प्रकृति, बद्धजीव काल, महदादि विकार ब्रह्माण्ड और उनके अन्तर्गत रहनेवाले देवादि पदार्थ।

भा० दी०—सूत्र में उन नित्य पदार्थों को संक्षेपतः गणना की गयी है जिनके आश्रय श्रीभगवान हैं। इस समूह में स्वयं भगवान से लेकर नित्य विभूति तथा लीला विभूति के सभी पदार्थ आ जाते हैं। वेदान्तियों के अनुसार सभी साँसारिक पदार्थ नित्य

हैं। किन्तु उनमें से कुछ वस्तुओं का आकार बदलता रहता है, अतएव उन्हें लोक व्यवहार में अनित्य कहा जाता है। इस श्रेणी में सर्व प्रथम भगवान् के गुणों के कुछ विभाग किये जाते हैं। ज्ञान, आनन्द, अमलत्व अनन्तत्व गुण भगवान के स्वरूप निरूपक गुण हैं। इन गुणों के ही द्वारा भगवान को पहचाना जाता है। भगवान् के वात्सल्य, सौशील्य आदि गुण उनके स्वरूप निरूपक विशेषण हैं। भगवान के ऐश्वर्य, वीर्य, तेजः शक्ति ज्ञान और बल का इन्हीं गुणों में अन्तर्भाव होता है। इन्हीं गुणों में भगवान के अन्य गुणों का भी अन्तर्भाव हो जाता है। दिव्य मंगल विग्रह के अन्तर्गत भगवान् के दिव्य कल्याणगुण पूर्ण बैकुण्ठ में रहने वाले शरीर के साथ-साथ विभिन्न अवतारों में इच्छा गृहीत शरीर भी आते हैं।

इन सभी विग्रहों में रहने वाले कान्ति सौकुमार्य आदि गुण हैं। भगवान् के किरीट, कुण्डल हार केयूर आदि दिव्य भूषण हैं तथा शंख चक्रादि भगवान के दिव्य आयुध हैं। श्रीदेवी नीला-देवी आदि भगवान की पट रानियाँ श्रीविस्वक्सेन गरुड़ आदि नित्य सूरिगण हैं जो भगवान एवं उनकी पटरानियों की सर्व विधि सेवा किया करते हैं। छत्र चमर आदि सेवा के उपकरण हैं। चण्ड प्रचण्ड आदि भगवान के द्वारपाल हैं। कुमुद कुमुदाक्ष पुण्ड-रीक बामन आदि भगवान के गणाधिप हैं। जो जीव भगवान की कृपा से ही इस संसार सागर को पार कर अविभूत गुणाष्टक होकर उनके नित्य ऐकान्तिक सेवा करने लग जाते हैं, उन्हें मुक्त

जीव कहा जाता है। इन सबों के आश्रय- पञ्चोपनिषन्मय परमाकाश हैं। जो मूल प्रकृति त्रिगुणात्मिका तथा लीला विभूति का का मूल कारण है। प्राकृतिक बन्धन से बन्धे हुए संसारी जीव बद्ध चेतन कहलाते हैं। दिन, रात, मास, पक्ष आदि विभागों से युक्त काल तत्त्व है। प्रकृति के परिणाम भूत महान् अहंकार, पञ्चतन्मात्रायें, पञ्च ज्ञानेन्द्रियां, पञ्च कर्मेन्द्रियां, पञ्च महाभूत और मन ये प्रकृति के तेइस विकार हैं। इनसे बने ब्रह्माण्डों की संख्या अनन्त है। और उनके भीतर रहने वाले जीवों की संख्या भी अनन्त है।

सूत्र ९७–अयनमित्यस्य–एतेषामाश्रय इत्यर्थः।

अनु०—अयन पद का अर्थ है कि भगवान इनसभी नित्य पदार्थों के आश्रय हैं।

सूत्र ९९–एतदाश्रयक इति वाऽर्थः।

अनु०—अथवा भगवान के ये सभी पदार्थ आश्रय हैं, यह अयन पदार्थ है।

सूत्र १००–अनेन निर्वाहद्वयेन परत्वसौलभ्ये फलिते।

अनु०–इन दोनों प्रकार के निर्वाहों से भगवान के परत्व एवं सौलभ्य नामक गुण बतलाये गये हैं।

भा० दी०—'तत्पुरुष समास के अनुसार भगवान को सभी पदार्थों का आश्रय बतलाकर उनके परत्व गुण को सूचित किया गया है तथा बहुव्रीहि समास के अनुसार भगवान को सभी पदार्थों में

विद्यमान बतलाकर उनकी सौलभ्यता बतलायी गयी है ।

सूत्र १०१–अन्तर्यामित्वमुपायत्वमुपेयत्वं चेति वा ।

अनु०–अथवा दोनो प्रकार के समासों के तीन अर्थ विवक्षित हैं–उपायत्व, उपेयत्व तथा अन्तर्यामित्व ।

भा० दी०–भगवान का सभी पदार्थों के भीतर बताने का अभिप्राय है कि भगवान सभी पदार्थों के भीतर रहकर उनका नियमन किया करते हैं, अयन शब्द की सिद्धि दो प्रकार से होती है। इण् गतौ धातु से और अय गतौ धातु से। अय शब्द से करण मे ल्युट प्रत्यय करने पर अयन शब्द का अर्थ उपाय होगा तथा कर्म में प्रत्यय करने पर उपेय रूप अर्थ होगा। इस तरह भगवान सबों के प्राप्य तथा उपाय सिद्ध होते हैं। इस उपाय एवं उपेय रूप अर्थ में नार पदार्थ के अर्थ में संकोच करना होगा और उसका केवल चेतनों का ही वाचक मानना होगा ।

सूत्र १०२–'एम्पिरानेन्दै' इत्युक्तत्वादीश्वर एव सर्वविध-बन्धुरित्युच्यते ।

अनु०–श्रीपरकालसूरि के द्वारा 'एम्पिरानेन्दै' यह कहे जाने के कारण ईश्वर ही हर प्रकार के बन्धु है

भा० दी०–'मेरे उपकारक पिता तथा हर प्रकार के बन्धु श्री भगवान ही है' यह श्री परकालसूरि ने अपने बृहत सूक्त नामक ग्रन्थ के (१।१।६) गाथा में बतलाया है। अतएव नारायण पद भगवान् के सर्वविध बन्धुत्व को बतलाता है।

नारायणोपनिषद् में भी बतलाया गया कि माता, पिता, भाई, निवास आश्रय मित्र और प्राप्य भगवान श्रीमन्नाराण ही हैं। नारायणोपनिषद् की श्रुति भी बतलाती है। माता, पिता, भ्राता निवासश्शरणं सुहृद् गतिर्नारायण:।'

सूत्र १०३–अस्माकं परार्थतादशायामपि सोऽस्मदर्थं एव भवति।

अनु–यदि भगवान को भूलकर हम अज्ञानी बनकर अपने सर्व विध बन्धु भगवान को भूल जाँय और किसी अन्य को ही अपना स्वामी समझने लगें। किन्तु भगवान अत्यन्त दयालु हैं। अतएव वे हमारा साथ नहीं छोड़ते। वे अन्तर्यामी रूप से हमारे हृदय के भीतर विद्यमान रहकर हमारे हितों की सर्वदा रक्षा किया करते हैं। इस तरह भगवान जीवों को नहीं भूलते हैं।

सूत्र १०४–रात्रौ मठे भोजयितार इवान्तर्गूढ: सत्तामारभ्य रक्षंस्तिष्ठति।

अनु०–रात्रि में छिपकर मठ में भोजन देने वाले पिताकी भांति अन्तर्यामी बनकर वे भगवान हमारी सत्ताकाल से ही रक्षा कर रहे है।

भा० दी०–भगवान् हमारे हृदय में छिपकर हमारे हितों की रक्षा अन्र्यामी रूप से इसलिए किया करते हैं कि हो सकता है कि हम अपनी आसुरी प्रकृति के कारण भगवान का अनादर करें और उनकी सहायताओं को न लेना चाहें, अतएव भगवान

रात्रि में छिपकर मठ में भोजन देने वाले पिता के समान छिप-कर हमारी रक्षा करते हैं। रात्रि मठ का आशय है कि कोई पुत्र अपने पिता से नाराज होकर घर से भागकर किसी मठ (गुरु-कुल ,में चला गया। वह अपने पिता की किसी प्रकार को भी सहायता नहीं लेना चाहता था। जब वह बालक रात्रि में सो गया तो उसके पिता आचार्य के पास गये और कहे कि आप इसके अध्य-यन की हर प्रकार की व्यवस्था करें। मैं इसका हर प्रकार का खर्च गुप्त रूप से दिया करूंगा। वह लड़का गुरुकुल में पढ़कर हर प्रकार के ज्ञानों को प्राप्त कर लिया और आचार्य को गुरु दक्षिणा देने के लिए कहा तो आचार्य ने बतलाया, आज तक के सभी खर्च तुम्हारे पिता ही दिया करते थे, किन्तु तुम उनसे सदा नाराज रहा करते हो, पराङ्मुख रहा करते हो। उसी पिता के समान छिपकर परमात्मा हमारी हर प्रकार की रक्षा किया करते हैं।

सूत्र १०५–'आय' इत्यनेन 'शेन्राल कुडैयाम्' इत्युक्त प्रकारेण सर्वं त्रिधान्यपि कैङ्कर्याणि कर्तव्यानीत्यपेक्ष्यते

अनु०–'आय' के द्वारा 'शेन्राल कुडैयाम' इत्यादि हर प्रकार से हर प्रकार की सेवा करने की बात प्रकाशित होती है।

भा० दी०–नारायण में जो चतुर्थी विभक्ति है उसके द्वारा भगवान की हर प्रकार की सेवाओं को सभी देश काल, एव अव-स्थाओं में करने की प्रार्थना की जाती है। इस प्रकार की श्री शेषजी की सेवा का वर्णन श्री सरोयोगी अपने दिव्य प्रबन्ध में

करते हुए कहते हैं कि–शेषजी भगवान के यात्रा के प्रसंग में छत्र बैठने के लिए सिंहासन, चलने के लिए खड़ाऊं, सोने के लिए शय्या, मंगलदीप, वस्त्र और तकिया बन जाते हैं। इसी गाथा का अनुवाद श्री यामुनाचार्य स्वामीजी स्तोत्र रत्न में करते हुए कहतेहै

निवासशय्यासनपदुकांशुको,पधानवर्षातपवारणादिभि।
शरीरभेदैस्तवशेषतां गतैः, यथोचितं शेष इतीर्यते जनैः॥

सूत्र १०६–नमसि स्वस्य स्वार्थता नास्तीत्युक्तत्वात् पुनः कैङ्कर्यप्रार्थनं कथं युज्यत इति चेत।

अनु॰–यदि कोई कहे कि यदि नमः में अपना स्वार्थ नहीं है तो फिर कैंकर्य की प्रार्थना क्यों की जा रही है।

भा॰दी॰–प्रश्न यह उठता है कि यदि नमः शब्द द्वारा सर्वथा भगवान् से कैंकर्य की प्रार्थना क्यों करनीं चाहिए! क्या इसमें स्वार्थ नहीं आता है!

सूत्र १०७–'पडियाय् किडन्दुन् पवलवाय काण्वेने' इत्युक्त प्रकारेण कैङ्कर्यप्रार्थन नागन्तुकम् स्वरूपप्रयुक्त मेव।

अनु॰–श्री कुलशेखर सूरि प्रणीत 'पडियाय' इत्यादि गाथा के अनुसार कैंकर्य की प्रार्थना स्वाभाविक ही है, आगन्तुक (औपाधिक) नहीं।

भा० दी०-कुलशेखर सूरि अपनी एक गाथा में कहते हैं कि-हे भगवन् मैं आपके सामने सोपान बनकर आपके प्रवाल सदृश लाल लाल होठों को देखता रहूँ ।' इस गाथा में श्री सूरि अपने को सोपान बनने के लिये कह कर यह सूचित करते हैं कि जीव को जड के समान बिल्कुल भगवान के परतन्त्र रहना चाहिए । अर्थात् जीव का स्वभाव है कि वह भगवान का शेष रहे । उसके अभाव में जीव को सत्ता ही समाप्त् हो जायेगी । और शेषत्व की भावना रहने पर जीव भगवत् कैंकर्य किये बिना रह नहीं सकता और बिना प्रार्थना के कैंकर्य मिल नहीं सकता । अतएव कैंकर्य की प्रार्थना जीव का स्वाभाविक धर्म है अस्वाभाविक नहीं ।

सूत्र १०८-तस्मात्-'वलुविलाबडिमै शेय वृण्डुम्' इत्युक्तां प्रार्थनां सूचयति ।

अनु०—अतएव-'बलु विला' इत्यादि गाथोक्त प्रार्थना को चतुर्थी विभक्ति सूचित करती है ।

भा० दी०-श्री शठकोप सूरि सहस्र गीति की (३।३।१) गाथा में कहते हैं कि- 'हमें भगवान् की सतत सेवा करनी चाहिए।' इस गाथा में श्री सूरि का अभिप्राय है कि चूंकि सेवा करना जीव का स्वभाव है अतएव सेवा मिलने पर पूर्ण रूप से करनी चाहिए ।

सूत्र १०९-'कणाणारक्कण्डु वलिवदोकाद काद लुत्ताक्कु'-

शुण्डो कण् कल् तुञ्जुदल्' इत्युक्त प्रकारेण, दर्श-नात् पूर्वं नास्ति निद्रा; दर्शने सति 'सदा पश्यन्ति सूरयः' इत्युक्तत्वान्नास्ति निद्रा ।

अनु०—'कण्णार कण्डु' इत्यादि गाथा में कहे गये रूप से भगवद्दर्शन के पहले मुक्त जीवों को निद्रा नहीं आती । भगवद् दर्शन के पश्चात् श्री सूरि गण सदा भगवान का दर्शन किया करते हैं ।' इत्यादि रूप से दर्शन के पश्चात् भी उन्हें निद्रा नहीं आती ।

भा० दी०–भगवान से सीमातीत प्रेम करने वाले भक्त-जनों को परम पद पहुंच कर भगवद् दर्शन किये बिना नींद नही आती है । श्री शठकोप सूरि अपने तिरुविरुत्तम नामक ग्रन्थ के ९७ गाथा में कहते हैं कि हे प्रभो ! जिन लोगों की आपका दर्शन किये बिना इच्छा पूर्ण नहीं होती वे कभी क्या आपका दर्शन किये बिना अपनी आंखें बन्द कर सकते हैं !' इससे प्रतीत होता है कि मुक्त एवं नित्य जीवों को भगवद् दर्शन के बिना चैन नहीं पड़ती है । और भगवान का दर्शन हो जाने पर वे सदा भगवान का दर्शन करते रहते है । कभी भी वे भगवद् दर्शन से विरत नहीं होते । इससे सिद्ध होता हैं कि नित्य सूरियों के ज्ञान का कभी संकोच नहीं होता हैं ।

सूत्र ११०–'पलुदे पल पहलुम् पोयिन' इति गत दिनार्थमा-क्रन्दतां निद्राया नास्त्यवकाशः ।

अनु०-'भगवद् दर्शन के बिना मेरे बहुत दिन बीत गये।' इस गाथा में कहे गये बीते दिनों के लिए रोने वालों के लिए निद्रा का अवकाश कहां !

भा० दी०-श्री सरोयोगी अपने तिरुवन्दादि नामक ग्रन्थ में कहते हैं कि मेरा अत्यन्त अभाग्य है कि अनादि काल से भगवान् का दर्शन के बिना मेरे बहुत काल बीत गये। कहने का आशय है कि जीव अनादि काल से भगवत् पराङ्मुख है। अतएव उसे भगवत् भक्ति का रस नहीं मिलता। जब उसे थोड़ा सा भी भगवत् कैंकर्य का रस कहीं मिल गया तो वह कभी भी भगवान से पराङ्मुख नहीं हो सकता है। और अपने बीते दिनों के लिए हम अफसोस करेगा।

सूत्र १११-'अन्नुन्नान्पिरन्दिलेन पिरन्दपिन्मरन्दिलेनइतिह्याहु

अनु०-श्री भक्तिसार सूरि ने भी कहा है कि जब तक मुझे परमात्म ज्ञान नहीं हुआ था तब तक मेरा जन्म ही नहीं हुआ था और ज्ञान उत्पन्न होने पर मैं उसे भूल नहीं सकता। अतएव भगवान मेरे हृदय में नित्य निवास कर रहे हैं।

सूत्र ११२-कैंकर्यं चेदम्-'ओलिविल् कालमेल्ला मुडनाय मन्नि' इत्युक्तप्रकारेण सर्वदेश सर्वकालसर्वावस्था स्वनुवर्तते।

अनु०-श्रीशठकोप सूरि प्रणीत 'ओलिविल्' इत्यादि गाथा के अनुसार सभी देशों कालों एवं अवस्थाओं में यह कैंकर्य अनुवर्तित होता रहता है।

भा० दी०-द्वयमन्त्र में दो खण्ड हैं, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। उत्तरार्द्ध के ही अर्थ का विवरण श्रीशठकोपसूरि ने सहस्र गीति की (३।३।१) गाथा में किया है। इस गाथा का अर्थ है कि—शब्दायमान झरनों से परिवृत श्री वेंकटाद्रिनाथ हमारे कुल

दैवत परंज्योति भगवान की विच्छेद रहित सभी कालों में, सभी देशों में तथा शयनासनादि सभी अवस्थाओं में निरन्तर सेवा करनी चाहिये । इस सूक्ति में श्रीसूरि भगवान से नित्य ऐकान्तिक सेवा की प्रार्थना करने के लिए जीवों को उपदेश देते है।

सूत्र ११३—अष्ट तन्तुत्रिगुणम्मङ्गलसूत्रमिव श्रीमन्त्रः ।

अनु०—श्रीमन्त्र आठतारों तथा तीनलरों वाले मंगल-सूत्र के समान है ।

भा० दी०—इस सूत्र में श्रीमन्त्र की उपमा एक मंगल सूत्र से दी गयी है । विवाहकाल में पति अपनी पत्नी के गले में एक मंगलसूत्र डालता है जिसे पत्नी सौभाग्य काल में अपने गले से कभी भी अलग नहीं करती है।उसी तरह जीवों के गले में आचार्य को मध्यस्थता में यह भगवान का मंगलसूत्र पड़ जाता है। और शरणगति काल से ही जीव परमात्मा का उसी तरह रक्ष्य तथा प्रिय बन जाता है जिस श्रीमन्त्र में रहने वाले आठ अक्षर ही उसमंगलसूत्रकेआठ तार हैं तथा उसके तीन पद ही तीन लर है।

सूत्र ११४—अनेनेश्वर आत्मनां पतिर्भूत्वा रक्षक इत्युच्यते

अनु०—श्रीमन्त्र को मंगल सूत्र के समान बतलाकर यह कहा गया है कि परमात्मा जीवों के पति (स्वामी) होने के कारण रक्षक हैं ।

सूत्र ११५—तथा च श्रीमन्त्रेण भगवत एव शेषभूतोऽहं स्वार्थो न भूयासम्, सर्वशेषिणो नारायणस्यैव सर्व-विधानि कैंकर्याणि क्रियासम्' इत्युक्तम् भवति ।

अनु०—इस तरह श्रीमन्त्र के द्वारा यह बतलाया जाता है कि हमभगवान् के ही शेष हैं, अतएव हमें अपने लिए भी नहीं होना चाहिए । और सबों के स्वामी श्रीमन्नारायण भगवान के कैंकर्य को ही हमे करना चाहिए ।

इस तरह मुमुक्षुपडि का मूल मन्त्र समाप्त हुआ ।

अष्टाक्षर—मन्त्र—प्रयोग—विधिः

मूलमन्त्र श्रीसम्प्रदाय का मन्त्र रत्न है। इसमें सम्पूर्ण वेदों का सार निहित है। इसका समुचित अनुष्ठान करके सभी मनोरथों की पूर्ति की जा सकती है। अनुष्ठानों में अंगन्यास, कर-न्यास, आवरण पूजन आदि अत्यन्त अपेक्षित होते है। अर्थज्ञान के साथ-साथ मन्त्ररत्न का अनुष्ठान सभी फलों का प्रदाता है, यह शास्त्रों की सम्मति है। यहां पर "शारदा तिलक" नामक तन्त्र के अनुसार मूलमन्त्र के अंगन्यास, करन्यास तथा आवरण पूज-नादि क्रम दिये जाते हैं।

ॐ नमो नारायणाय' इति अष्टाक्षरो मन्त्रः। अस्य श्रीविष्णो-रष्टाक्षरमन्त्रस्य साध्यो नारायणऋषिः। गायत्री छन्दः। विष्णु र्देवता धर्मार्थकामनोक्षसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः।

ॐ साध्यनारायणऋषयेनमःशिरसि। ॐ गायत्री छन्दसे नमःमुखे। ॐ विष्णुर्देवतायैनमः हृदि। इति ऋष्यादि न्यासः।

ॐ क्रुद्धोल्काय अंगुष्ठाभ्यां नमः। ॐ महोल्काय तर्जनी-भ्यां नमः। ॐ वीरोल्काय मध्याभ्यां नमः। ॐ द्युल्काय अनामि-काभ्यां नमः। ॐ सहस्रोल्काय कनिष्ठिकाभ्यां नमः। इतिकरन्यासः। एवं हृदयादिनेत्रहीन पञ्चाङ्गन्यासंकृत्वामन्त्राङ्गन्यासंकुर्यात्। तत्रक्रमः-ॐओम् नमः हृदयाय नमः। ॐ नं नमः शिरसे स्वाहा। ॐ मों नमः शिखायै वषट्। ॐ नां नमः कवचाय हुम्। ॐ रां नमः नेत्रा-भ्यां वषट्। ॐ यं नमः अस्त्राय फट्। ॐ णं नमः कुक्षौ। ॐ यं नमः पृष्ठे। ॐ नमः सुदर्शनायास्त्राय फडिति मन्त्रेण दिग्बन्धं

मनिशं शंखं गां पंकजम् चक्रं विभ्रतिमरावसुमतीसंशोभिपार्श्वद्वयम् । ताय माधवाय नमः हृदये । औम् मं ईं वहणसहिताय गोविन्दाय नमः कण्ठे । औम् गं उँ अंशुमत् सहिताय विष्णवे नमः दक्षिणपार्श्वे । ओम् वंउँ भगसहिताय मधुसूदनाय नमः दक्षिणांसे । ओम् तें एं विवश्वन् साहितायत्रिविक्रमाय नमः गले ओम् वां ऐं मित्रसहिताय वामनाय नमः । ओम् सुं ओं पूषसहिताय श्रीधराय नमः । वमांसे ओम् दें आं पर्जन्य सहिताय हृषिकेशाय नमः गले । ओम् वां अं त्वष्टसहिताय पदमनामाय नमः पृष्ठे । ओम् यं अः विष्णुसहिताय दामोदराय नमः ककुदि । ओम् नमो भगवेवासुदेवा मूर्ह्नि ।

ओम् किरीट केयूर–हार–मकरकुण्डलशंख चक्र गदाम्भोज हस्तान पीताम्बरधरार श्रीवत्सांकितवक्षस्थत्राय श्रीभूमिसहिताय स्वात्मज्योतिर्द्वियदीप्तिकराय सहस्रादित्यतेजनसे नमः । इति व्यापकं च विन्यस्य नारायणं ध्यायेत् । अथध्यानम् । उद्यत्कोटि दिवाराभ- कुर्यात् । इति प्रथमो न्यासः ।

ॐ नमः मूलाधारे । ॐ नं नमः हृदये । ॐ मो नमः वक्त्रे । ॐ नां नमः दक्षिण बाहुमूले । ॐ रां नमः वामबाहुमूले । ॐ यं नमः दक्षपाद मूले । ॐ णां नमः वामपाद मूले । ॐ यं नमः नाभौ । इति द्वितीयो न्यासः ।

ॐ नमः कण्ठे । नं नमः नाभौ । ॐ मों नमः हृदये । ॐ नां नमः दक्षस्तने । ॐ रां नमः वामस्तने । ॐ यं नमः दक्षपार्श्वे । ॐ णां नमः वाम पार्श्वे । ॐ यं नमः पृष्ठे । इति तृतीयोन्यासः

ॐ नमः मूर्ह्नि । ॐ नं नमः मुखे । ॐ मों नमः दक्षनेत्रे

ॐ नां नमः वामनेत्रे । ॐ रां नमः दक्षकर्णे । ॐ यं नमः वामकर्णे । ॐ णां नमः दक्षिणनासिकायाम् । ॐ यं नमः वामनासिकायाम् । इति चतुर्थो न्यासः ।

ॐ नमः बाहुमूलयोः । ॐ नं नमः कूर्परयोः । ॐ मों नमः मणिबन्धयोः । ॐ नां नमः हस्तांगुलिषु । ॐ रां नमः पादमूलयोः । ॐ यं नमः जानुनोः । ॐ णां नमः गुल्फयोः । ॐ यं नमः पादाङ्गुलिषु । इति पञ्चमोन्यासः ।

ॐ नमः त्वचि । ॐ नं नमः रक्ते । ॐ मों नमः मांसे । ॐ नां नमः मेदसि । ॐ रां नमः अस्थिन । ॐ यं नमः मज्जायाम् । ॐ णां नमः शुक्रे । इति सप्तधातून् हृदये न्यस्य । ॐ यं नमः प्राणेषु इति गले न्यसेत् । इति षष्ठोन्यासः ।

ॐ नमः मूर्ध्नि । ॐ नं नमः नेत्रयोः । ओम् मों नमः मुखे । ओम् नां नमः हृदये । ॐ रां नमः कुक्षिद्वये । ॐ यं नमः ऊरुद्वये । ॐ णां नमः जंघाद्वये । ॐ यं नमः पादद्वये । इति सप्तमोन्यासः ।

ॐ नमः दक्षगंडे । ॐ नं नमः वामगंडे ॐ मों नमः दक्षांसे । ॐ नां नमः वामांसे । ॐ रां नमः दक्षोरौ । ॐ यं नमः वामोरौ । ॐ णां नमः दक्षपादे । ॐ यं नमः वामपादे । इत्यष्टमोन्यसः ।

एवं मूलमन्त्रवर्णन्यासं कृत्वा द्वादशमूर्तिपंजरन्यासं कुर्यात् ।

ओम् अं धातुसहिताय केशवाय नमः ललाटे । ओम् नं आं अर्यमासहिताय नारायणाय नमः कुक्षौ । ओम् मों इं मित्रसहि-

ताय माधवाय नमः हृदये । ॐ भं इँ वह्मसाहिताय गोविन्दाय नमः कण्ठे । ॐ गं उँ अंशुमत् सहिताय विष्णवे नमः दक्षिणपार्श्वे ॐ वं ॐ भगसहिताय मधुसूदनाय नमः दक्षिणांशे । ॐ तें एं विवश्वत् सहितायत्रिविक्रमाय नमः गले ॐ वां ऐं मित्र सहिताय वामनाय नमः ॐ सुं ओं पूषसहिताय श्रीधराय नमः । वामांसे ॐ दें औं पर्जन्यसहिताय हृषिकेशाय नमः गले । ॐ वां अँ त्वाष्टसहिताय पद्मनाभाय नमः पृष्ठे । ॐ यँ अः विष्णुसहिताय दामोदराय नमः ककुदि । ॐ नमो भगवेवासुदेवते मूर्ध्नि । ॐ किरीट केयूर–हार–मकर कुण्डलशंख चक्रगदा म्भोजहस्ताय पीताम्बरधराय श्रीवत्सांकितवक्षस्थलाय श्रीभूमिसहिताम स्वात्मज्योतिर्द्वय दीप्ति कराय सहस्रादित्यतेजसे नमः । इति व्यापकं च विन्यस्य नारायणं ध्यायेत् । अथ ध्यानम् ।

उद्यत्कोटिदिवाकराभमनिशं शंखंगदां पंकजम्
चक्रं बिभ्रत्मिंदिरावसुमती संशोभिपार्श्वद्वयम् ।
कोटीरांगदहारकुडलधरं पीतांबरंकौस्तुभोद्
दीप्तं विश्वधरं स्ववक्ष -सिल्सच्छ्रीवत्सःचिह्नंभजे ।

इतिध्यात्वा मानसोपचारैः सम्पूज्य पीठपूजां कुर्यात् ।

तत्रादौ पूर्ववत् मंडूकादिपरतत्त्वांत पीठदेवताः सम्पूज्य पूर्वादिषु केसरेषु–

ओम् विमलायै नमः । ओम् उत्कर्षिण्यै नमः । ओम् ज्ञानायै नमः । ओम् क्रियायै नमः । ओम् योगायै नमः । ओम् प्रह्वयै नमः । ओम् सत्यायै नमः । ओम् ईशानायै नमः । मध्ये । अनुग्रहायै नमः

इति पीठशक्तिः पूजयेत् ।

ततः ओम् नमोः भगवते विष्णवे सर्वभूतात्मने वासुदेवाय सर्वात्मसंयोग पद्मपीठात्मने नमः । इति पुष्पाञ्जलिनाऽसनं दत्वा तत्रमूलन मूर्तिः प्रकल्प्य अथवा स्वर्णादिनिर्मितं यंत्रं प्रतिमां वा संस्थाप्य, पूर्ववत् पाद्याद्यैः पुष्पांतैरुपचारैः पुरुषसूक्तेन मूलमन्त्रेण च सपूज्य आवरणपूजां कुर्यात् ।

तद्यथा-आग्नेयादि कोणेषु दिक्षुच-ओम् क्रुद्धोल्काय हृदयाय नमः । ओम् महोल्काय शिरसे स्वाहा । ओम् वीरोल्काय शिखायवषट् । ओम् द्युल्काय कवचाय हुम् । ओम् हस्तोल्काय अस्त्राय फट् । इति प्रथमावरणम् ।

तद्बाह्ये केसरोषु पूर्वादिक्रमेण—ओम् नमः । ओम् नं नमः ओम् मों नमः । ओम् नां नमः । ओम् यं नमः । इति पूजयेत् । इति द्वितीयावरणम् ।

तद्बहिरष्ट दलेषु पूर्वादिचतुर्दिक्षु+ओम् वासुदेवाय नमः । ओम् संकर्षणाय नमः । ओम्प्रद्युम्नाय नमः । ओम् अनिरुद्धाय नमः आग्नेयादिकोणेषु-ओम् शान्त्यै नमः । ओम् श्रियै नमः । ओम् सरस्वत्यै नमः । ओम् रत्यै नमः । इति तृतीयावरणम् ।

ततोदलाग्रेषु—ओम् शंखाय नमः । ओम् चक्राय नमः । ओम् गदायै नमः । ओम् पद्माय नमः । ओम् कौस्तुभाय नमः । ओम् मुशलाय नमः । ओम् खड्गाय नमः । ओम् वनमालायै नमः । इति चतुर्थावरणम् ।

तद्बहिरग्रे—ओम् गरुडाय नमः । दक्षिणे—ओम्शंखनिधये नमः वामे—ओम्पदम्निधये नमः । पश्चिमे—ओम्ध्वजाय नमः अग्निकोणे ओम् विघ्नाय नमः । निऋतिकोणे—ओम् आर्याय नमः । वायुकोणे—ओम् दुर्गायै नमः । ऐशान्याम्—ओम् सेनान्यै नमः । इति पञ्चमा-

वरणम् ।

ततस्तद्बाह्ये भूपुरे पूर्वादिक्रमेण—

ओम् इन्द्राय नमः । ओम् अग्नये नमः । ओम् यमाय नमः ओम् निऋतये नमः । ओम् वरुणाय नमः । ओम् वायवे नमः । ओम् कुवेराय नमः । ओम् ईशानाय नमः । ईशानपूर्वयोर्मध्ये–ओम् ब्रह्मणे नमः । निऋति पश्चिमयोर्मध्ये–ओम् अनंताय नमः । इति षष्ठावरणम् ।

(पुनः पूर्वादिक्रमेण)

ओम् व्रजाय नमः । ओम् शक्तये नमः । ओम् दण्डाय नमः ओम् खड्गाय नमः । ओम् पाशाय नमः । ओम् अंकुशाय नमः । ओम् गदायै नमः । ओम् त्रिशूलाय नमः । ओम् चक्राय नमः । इत्यायुधानि च पूजयेत् । इति सप्तमावरणम् ।

इत्यावरणपूजां कृत्वा मूलमंत्रेण पुरुष सूक्तेन च धूपदीप नैवेद्याचमनीयतांबूल दक्षिणानीराजनैर्नारायणं स पूज्य–

ओम् जितंते पुण्डरीकाक्ष नमस्तेविश्वभावन ।
सुब्रह्मण्य नमस्तेऽस्तु महापुरुषपूर्वज ।"

इत्यादि महापुरुषस्तवेन पूर्वोक्तेन स्तुत्वा साष्टाङ्गं प्रणम्य यथाविधि जपं कुर्यात् । अस्यपुरश्चरणं षोडशलक्षात्मकम् , ततो जपांते मधुराप्लुतैः कमलैर्दशांशहोमं कृत्वा तद्दशांशेन तर्पणं, तद्दशांशेन मार्जनं तद्दशांशेन ब्राह्मणांश्च भोजयेत् ।

तथा च शारदा तिलके–

विकार लक्षं प्रजपेन् मनुमेनं समाहितः ।
तद् दशांशं सरसिजैर्जुहुयान्मधुराप्लुतैः ।
एवं सम्पूजयेद्विष्णुं प्रोक्तैरावरणैस्सह ।
धर्मार्थकामाँल्लब्ध्वा वै विष्णोः सायुज्यमाप्नुयात् ।

इति श्रीविष्णोरष्टाक्षरपुरश्च-रण प्रयोगः ।

मुमुक्षु पडि के द्वितीय रहस्य

द्वयमन्त्र प्रकरण का प्रारम्भ

श्रीमते रामानुजायनमः × श्रीमल्लोकगुरुवेनमः ।

श्रीमद् वरवरमुनयेनमः × श्रीवादिभीकरमहागुरुवेनमः ।

श्रीमदनन्ताचार्यस्वामिनेनमः × श्रीमदविष्वक्सेनाचार्य

त्रिदण्डिस्वामिने नमः ।

क्वेमा लोकगुरोः प्रभावविपुलाःकाष्ठां महिम्नां गताः
वाचोनन्तगुरोर्धियाविमलया यास्संस्कृतेप्रापिताः ।
क्वाहं मन्दमतिर्धिया चपलया व्याख्यां मुमुक्षोः पडेः
कर्तुं लिप्सुरहो ! विवेकरहितः सीदामि शोकाकुलः ॥
सोऽहंश्रीमधुरीश्वरीं जनिमतां सेनाधिपं यामुनम्
श्रीरामानुजयोगिनं यतिपतिं लोकार्यवर्यं गुरुम् ।
नत्वानन्तगुरुं श्रये यतिवरं तुष्टः स तेनैव मे
विष्वक्सेनयतीश्वरो प्रदिशतात् ग्रन्थेऽत्रशुभ्रांगतिम्

मुमुक्षु के तीन रहस्यों में द्वयमन्त्र दूसरा रहस्य है । प्रथम रहस्य श्री मंत्र के अर्थ बतलाने के बाद इसकी व्याख्या की जाती है । श्री मन्त्र के नमः पद एवं नारायणाय पद के द्वारा प्रतिपादित उपाय एवं उपेय की विशद व्याख्या इस मन्त्र में की गयी है ।

सर्व प्रथम अधिकार प्राप्ति के लिए श्री वैष्णवाधिकारी

के लक्षण बतलाये जा रहे हैं ।

११६-बाह्यविषयसंगानां कात्स्न्र्येन सवासनंत्यागः; भगवत एव शरणत्वेन स्वीकरणम्, प्राप्यमवश्यम्भावीति दृढाध्यवसायः, प्राप्यत्वरा, यावज्जीवं दिव्यदेशेषु प्रावण्येन गुणानुभवकैंकर्यैः कालयापनम्, एवं वर्तमानानां श्रीवैष्णवानांम् महत्वमभिज्ञाय तेषु प्रेमविशिष्टता, श्रीमन्द्वयमन्त्रपरायणत्वम्, आचर्य प्रेमबहुल्यम्; आचार्य विषये भगवद् विषये च कृतज्ञत्वम्, ज्ञानविरक्तिशान्तिमता परमसात्त्विकेन सहवासश्च वैष्णवाधिकारिणोऽवश्यापेक्षितानि ।

अनु०—श्री वैष्णवाधिकारी के लिए (निम्न लिखित दस) गुण अवश्य अपेक्षित हैं । वे हैं (१) भगवान् को छोड़कर, पुत्र, मित्र, कलत्र आदि वस्तुओं में होने वाली आसक्ति का इस तरह वासना त्याग पूर्वक त्याग करना चाहिए कि जीवन में पुनः उन्मेष न हो सके । [२] उपायानपेक्ष एक मात्र रक्षक रूप से भगवान को स्वीकार करना, [३] मुझे भगवत् प्राप्ति रूपी अपने प्राप्य की प्राप्ति अवश्य होगी इस प्रकार का दृढ़ निश्चय, [४] प्राप्य भगवत् प्राप्ति के लिए शीघ्रता करना, [५] आजीवन भगवान् के अभिमत क्षेत्रों (दिव्य देशों) में प्रेम पूर्वक भगवान् के [कल्याण] गुणों का अनुसंधान एवं कैंकर्य करते हुए समय विताना, [६] इस प्रकार से रहने वाले श्री वैष्णवों के महत्त्व

को जानकर उनमें अधिक प्रेम रखना, [७] भगवान् के अनेक अन्य सभी सन्तों का त्याग करके केवल श्रीमन्त्र एवं द्वयमन्त्र को ही अपनाना [८] मन्त्र प्रदाता आचार्य मे अत्याधिक प्रेम [९] उन मन्त्रों के प्रदाता आचार्य एवं उन मन्त्रों के प्रति पाद्य सर्व विध बन्धु भगवान् का कृतज्ञ रहना। तथा [१०] ज्ञान, विरक्त एव शान्तिगुण समपन्न परम सात्त्विक महात्माजनों का सहवास।

भाव दीपिका—

इस मन्त्र को द्वयमन्त्र इसलिए कहा जाता है कि यह उपाय और उपेय इन दोनों की व्याख्या करता है, अथवा इसमें दो वाक्य है अतएव इसे द्वयमन्त्र कहते हैं। इस सूत्र में बतलाये गये श्री वैष्णवों के लिए अपेक्षित गुणों में से पहला गुण यह बतलाया गया है कि श्री वैष्णव को लौकिक एवं स्वर्ग में प्राप्त होने वाले सभी फलों की अभिलाषा का त्याग जुगुप्सा पूर्वक कर देना चाहिए। उन वस्तुओं के प्रति जुगुप्सा इस लिए अपेक्षित है कि उनके प्रति पुनः कालान्तर में प्राप्ति की इच्छा न उत्पन्न हो सके। दूसरे गुण में यह बतलाया गया है कि श्री वैष्णवों को यही सोचना चाहिए कि हमारे एक मात्र रक्षक श्री भगवान् ही है, उनको छोड़कर कोई दूसरा रक्षक नहीं है। भगवान् अपने आश्रित जीवों की रक्षा के लिए कर्म योग आदि सभी उपाय की अपेक्षा नहीं रखते हैं। तीसरे गुण का अभिप्राय यह है कि मुमुक्षु को अपने प्राप्य की महत्ता, उपाय की लघुता तथा अपने दोषो की बहुलता को देखकर निरास नहीं होना चाहिए। यदि

जीव ने यह सोच लिया कि परमात्मा से बढ़कर कोई दूसरा महान् लक्ष्य नहीं हो सकता किन्तु इनमे अनुरूप मैंने कोई उपाय नहीं अपनाया। मैंने तो केवल शरणागति मात्र की है। इस लघु उपाय के द्वारा इस परमात्मा प्राप्ति रूपी लक्ष्य की प्राप्ति कैसे संभव है? तथा मैं स्वयं दोषाकर हूँ। अतएव मुझ दोषाकर को गुणाकर परमात्मा की प्राप्ति वैसे ही असंभव है जिस तरह अन्धकार को कभी प्रकाश की प्राप्ति नहीं होती है।

मुमुक्षु के लिये ये सभी विचार हानिकारक है। उन्हें यह महा विश्वास होना चाहिए कि शरणागति अमोघ उपाय है, भगवान की हमें अवश्य प्राप्ति होगी। हमारे प्राचीन प्राप मेरे प्राप्य के प्रतिबन्धक नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार का महा विश्वास होना हैं—

आवश्यक है। मेघनाद के द्वारा अमोघ अस्त्र ब्रह्मास्त्र के प्रयोग किये जाने पर भी महा विश्वास के अभाव में दूसरे राक्षसो ने उन्हें बांधने के लिए दूसरी रस्सी आदि का प्रयोग किया जिसके कारण साधनान्तर निरपेक्ष आमोघ ब्रह्मास्त्र ने अपना कार्य करना बन्द कर दिया। उसीतरह महाविश्वास के अभाव में प्रपत्ति स्खलित हो जाती है और महाविश्वास युक्त प्रपन्नों को शीघ्र भगवत् प्राप्ति रूपी मुक्ति प्रदान कर देती है।

राक्षसानामविस्रम्भादाञ्जनेयस्य बन्धने।
यथा विगलितासद्यस्त्वमोघाप्यस्त्र बन्धना।
तथा पुंसामविस्रम्भात् प्रपत्तिः प्रच्युता भवेत्

तस्माद् विस्रम्भ युक्तानां मुक्ति दास्यति साऽचि

इस महाविश्वास के पांच विरोधी हैं—[१] सर्वज्ञ भगवान् मेरे अपराधों को जानकर भी कैसे क्षमा कर देंगे ? [२] कर्मानुकूल फल प्रदाता भगवान् मुझे मुक्ति रूपी फल कैसे देंगे [३] प्रपत्ति मात्र करने से मेरे सारे पाप कैसे नष्ट हो सकेंगे ? [४] देहपात काल में ही भगवान् मुक्ति कैसे दे देंगे ? और [५] समाभ्यधिकरहित पुरुष परमात्मा किस प्रकार प्रपत्ति करने वाले जीवों के तारतम्य की ओर ध्यान दिये बिना मुझे मुक्ति दे देंगे ?

अतएव इन दोषों को कभी अपने मन में आने नहीं देना चाहिए। और यह सोचकर कि श्री लक्ष्मीजी के पुरुषकार से भगवान् मुझे अवश्य अपना लेंगे। यह विश्वास रखना चाहिए प्राप्य वस्तु की त्वरा का अभिप्राय यह है कि इस बात की सदा अभिलाषा होनी चाहिए कि मुझे शीघ्रातिशीघ्र परमात्मा की प्राप्ति हो जाय।

दिव्य देश वे स्थल हैं जिन स्थलों का मगलाशासन दिव्य सूरियों ने अपने दिव्य प्रबन्धों में किया है। श्रीवैष्णवों को उन दिव्य क्षेत्र में रहते हुए भगवान् के गुणों का अनुसंधान एवं कैंकर्य करते हुए रहना चाहिये।

जो श्री वैष्णव उपर्युक्त प्रकार से रहते हों उनसे अत्यधिक प्रेम करना चाहिए। क्योंकि ऐसे महात्मा इस लीला विभूति में कोई-कोई ही होते हैं। श्री वैष्णवों को श्रीमन्त्र एवं द्वय मन्त्र में अनन्य परायण होना चाहिये। इन मन्त्रों को स्वीकार करने

से पहले अन्य सभी मन्त्रों का परित्याग अवश्यक है। इन मन्त्रों के उपदेश करने वाले आचार्य में निष्ठावान् होना चाहिये। साथ ही यह भी सोचना चाहिये कि भगवान् की ही कृपा से हमें आचार्य का संबन्ध मिला है। आचार्य उस पारसमणि के समान है जो अपने स्पर्श मात्र से लोहे को स्वर्ण बना देता है। अतएव हम पर भगवान् की महती कृपा है। अन्त में हमें यह सोचना चाहिये कि ये सभी गुण हममें तो एकाएक आयें नहीं इनको अपने में आधान करने के लिये अभ्यास करना होगा। हम कहीं पथभ्रष्ट न हो जायं इसके लिए परमसात्त्विक सज्जनों की संगति अपेक्षित है।

११७—अस्याधिकारिणो रहस्यत्रयमप्यनु सन्धेयम् ।

अनु०–उपर्युक्त गुण विशिष्ट अधिकारी को चाहिये वह रहस्य त्रय का अर्थानुसन्धान भी करें। नीचे के सूत्र में शास्त्र, श्रीमन्त्र और चरमश्लोक के द्वारा कहे गये अर्थों को बतलाकर द्वय मन्त्रोक्त अर्थ की विशेषता बतलायी जा रही है—

११८—प्रमेषु प्रमाणेषु देहेन पुरुषार्थ लाभ इत्युच्यते श्रीमन्त्रे चात्मना पुरुषार्थ लाभ इत्युच्यते; चरमश्लोके चेश्वरेण पुरुषार्थ लाभ इत्युच्यते, द्वयेतु श्रीमहालक्ष्म्या पुरुषार्थ लाभ इत्युच्यते।

अनु०–सभी शास्त्रों (प्रमाणों) में शरीर के द्वारा पुरुषार्थ का लाभ बतलाया गया है। श्रीमन्त्र में आत्मा के द्वारा पुरुषार्थ

की प्राप्ति बतलायी गयी है चरमश्लोक में परमात्मा के द्वारा पुरुषार्थ की प्राप्ति बतलायी गयी है। किन्तु द्वयमन्त्र में श्री-महा लक्ष्मी के द्वारा पुरुषार्थ लाभ बतलाया गया है,

भावदी०—रहस्य त्रय को छोड़कर सभी शास्त्र यही बतलाते हैं कि परमात्मा ने सत्कर्मानुष्ठान करके सद्गति प्राप्ति करने के लिए यह शरीर दिया है। अतः मानव शरीर के द्वारा सत्कर्म का अनुष्ठान करके मोक्ष प्राप्त करना चाहिये। श्रीमन्त्र देह को चर्चा नहीं करता है। वह बतलाता है कि पर-मात्मा का अनन्य शेष जीवात्मा अपने स्वरूप को समझकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। चरमश्लोक में बतलाया गया है कि सवथा स्वतंत्र अपनी इच्छा से ही चेतन को मोक्ष प्रदान कर देते हैं। द्वय मन्त्र बतलाया है कि सत्र त्रिव बन्धु भगवान् चेतनों का उद्धार कृपा करके कर देते हैं।, किन्तु हो सकता है कि वे चेतनों के अपराधों को देखकर उनकी उपेक्षा भी करदें, उस अवस्था में भगवान् की प्रीयतमा जगन्माता श्री महा लक्ष्मीजी उन्हें समझा कर जीवों पर दया करने के लिए प्रेरित करती है। वे कहती हैं भगवान् ये जीव तो स्वभावतः अपराधी है। आप जगत पिता हैं। अतएव आप इन पर कृपा करें।

११६—श्रीमहालक्ष्म्या पुरुषार्थलाभो नामअस्याः पुरुषकार-भावं विना ईश्वरस्य कार्याकरणम्।

अनु०—श्री महा लक्ष्मी के द्वारा पुरुषार्थ लाभ का अर्थ

है कि उनके पुरुषकार के बिना भगवान् मोक्ष प्रदान रूपी जीवों का कार्य नहीं करते हैं ।

भा० दी०—स्वयं पांचरात्र शास्त्र में श्रीभगवान् वतलाये है कि संसार सागर में डूबते हुए जीवों को मेरी प्राप्ति के उपाय रूप से परमर्षियों ने श्री लक्ष्मीजी को पुरुषकार रूप से बत-लाया है। मेरा भी विचार यही है कि मेरी प्राप्ति का साधन श्री महा लक्ष्मीजी की सिफारिश को छोड़कर कोई दूसरा नहीं है ।

मत्प्राप्ति प्रति जन्तूनां संसारे पततामधः
लक्ष्मीः पुरुषकारत्वे निर्दिष्टा परमर्षिभिः ।
ममापि च मतं ह्येतत् नान्यथा लक्षणंभवेत् ।

१२०–द्वयस्याधिकारी—आकिंचन्यानन्यगतित्ववान् ।

अनु०—द्वयमन्त्र का अधिकार अकिञ्चन और अनन्यन गति पुरुष होता है ।

भा० दी०—द्वय मन्त्र का अधिकारी होने के लिए दो गुण आव-श्यक हैं, अकिञ्चन होना तथा अनन्य गति होना । सामर्थ्य के रहने पर भी जो कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि उपायों को नहीं अपना कर केवल भगवान् को ही अपने उद्धार के लिए अपनाता है, वही अकिंचन कहलाता है । अनन्य गति वह कहलाता है जो भगवान् को ही अपना रक्षक मानता है । इन दो गुणों से युक्त ही व्यक्ति द्वयमन्त्र क [illegible]पानेका अधिकारी होता है ।

१२१—एतदुभयस्वरूपं प्रपन्न परित्राणेऽवोचाम

अकिञ्चनता एवं अनन्यगतित्व, इन दोनों का स्वरूप प्रपन्न परित्राण नामक ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से बतलाया गया है।

भा० दी०—प्रपन्न परित्राण में सोदाहरण यह बतलाया गया है कि परमात्मा को छोड़कर माता, पिता, भाई, बन्धु कोई भी रक्षा नहीं कर सकते हैं। अतएव परमात्मा को ही एक मात्र शरण रूप से वरण करना चाहिए।

१२२—अस्य प्रथमखण्डे श्री महालक्ष्मीं पुरुषकृत्य भगवतश्चरणावुपायत्वेन स्वीक्रियते, द्वितीय खण्डे तयोर्मिथुनतादशायां कैंकर्यं प्रार्थ्यते।

अनुवाद—द्वय मन्त्र के प्रथम खण्ड में श्री महालक्ष्मी जी के समक्ष भगवान के चरणों को उपाय रूप से स्वीकार किया गया है, दूसरे खण्ड में श्री महालक्ष्मी जी की संयोग दशा में उनके कैंकर्य की प्रार्थना की गयी है।

भा० दी०—द्वय मन्त्र के दो खण्ड हैं पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध। 'श्री मन्नारायण चरणौ शरणं प्रपद्ये।' यह अंश पूर्वार्द्ध मे आता है। 'श्रीमते नारायणाय नमः' यह मन्त्र का अंश उत्तरार्द्ध मे आता है। पूर्वार्द्ध का अर्थ है कि—'मैं पुरुषकार स्वरूपा श्री महालक्ष्मी जी के सहित श्रीमन्नारायण भगवान के चरणों को शरण रूप से स्वीकार करता हूँ।' उत्तरार्द्ध का अर्थ है कि—'मैं लक्ष्मीजी तथा भगवान की सेवा करूं।

१२३–'श्री इति महालक्ष्म्या नाम'

अनु०–'श्रीः' यह महालक्ष्मी जी का शुभ नाम है।

भा० दी०–द्वय मन्त्र का पहला शब्द श्रीमत् है इसके भी दो खण्ड हैं, श्री और मत्। श्री शब्द के शोभा, ऐश्वर्य आदि अनेक अर्थ होते हैं। इसलिए यहां पर यह बतलाया जाता है कि श्री शब्द लक्ष्मी जी का वाचक है।

१२४–'श्रीयते' 'श्रयते' इति व्युत्पत्तिद्वयम्'

अनु०–श्रीशब्द की व्युत्पत्ति दो है–

श्रीमते इति श्रीः और श्रयते इति श्रीः।

भा० दी०–शब्द को बनाने की विधि को व्युत्पत्ति कहते हैं। श्री शब्द दो प्रकार से बनता है। श्रिञ् सेवायाम् धातु से कर्म में व्युत्पत्ति करने पर अर्थ होगा कि जो सभी लोगों के द्वारा आश्रयण की जाती हैं उन्हें श्री कहते हैं। और कर्ता में व्युत्पत्ति करने पर अर्थ होगा कि चूंकि लक्ष्मी जी जीवों के अपराधों को क्षमा कराने के लिए भगवान् का स्वयं आश्रयण करती, अतएवहैं भी उन्हें श्रीः कहते हैं।

१२५–सर्वेषामेतदाश्रयणेन स्वरूप लाभः, अस्याश्च तदाश्रयणेन स्वरूपलाभ इत्यर्थः।

अनु०–श्री लक्ष्मी जी का आश्रयण करने से सभी जीवों को अपने स्वरूप का लाभ होता है और श्री भगवान का आश्रयण करने से श्री लक्ष्मी जी को अपने स्वरूप का लाभ

होता है; यह इन दोनों व्युत्पत्तियों का अर्थ है।

भा० दी०–यह पहले के सूत्र में बतलाया गया हैं कि जीव लक्ष्मीजी का आश्रय ग्रहण करते हैं और श्री लक्ष्मीजी भगवान् का आश्रय ग्रहण करती हैं। किन्तु इस आश्रय का फल क्या है ? तो इसका समाधान करते हुए श्री लोकाचार्य स्वामी जी कहते हैं कि आश्रयण का फल स्वरूप का लाभ है। महालक्ष्मीजी के आश्रयण से चेतनों को अपने भगवत् शेषत्वरूप स्वरूप का लाभ होता है। और श्री महालक्ष्मी जी का आश्रयण करने से उनको सभी चेतन के प्रति शेषित्व और परमात्मा के प्रति शेषत्वरूप अपने स्वरूप का लाभ होता है। अर्थात् श्री लक्ष्मीजी सभी जीवों की स्वामिनी है और भगवान् सभी जीवों तथा लक्ष्मी जी दोनों के स्वामी हैं।

१२६—'इदानीमियं पुरुषकारत्वाकारेणोच्यते'

अनु०–प्रस्तुत द्वय मंत्र के पूर्वार्द्ध में श्री लक्ष्मी जी को पुरुषकाररूप से बतलाया जा रहा है।

भा० दी०–द्वय मन्त्र के पूर्वार्द्ध में यह बतलाया गया है कि जीव भगवान के चरणों को उपाय रूप से वरण करता है इस तरह वह भगवान् एव श्रीलक्ष्मी जी दोनों के शरण में जाता है। जीवों के साक्षात् पुरुषार्थ प्रदान करने वाले श्री भगवान् हैं और श्री लक्ष्मी जी तो उनके पुरुषकार का काम करती है अर्थात् जीवों के अपराधों को भगवान् से क्षमा करा

कर उन्हें मोक्ष प्राप्ति रूप फल दिलाती है। द्वयमन्त्र के पूर्वार्द्ध में श्री लक्ष्मी जी के इसी स्वरूप का वर्णन किया गया है।

१२७—जलमध्येऽग्नेः प्रज्वलनवत्, शीतले हृदयेऽपराधेन निमित्तेन कोपप्रादुर्भावे जाते, सहनमेतदर्थम्।

अनु०–जिस तरह शीतल जल में भी आग जल उठे उसी तरह सभी चेतनों के (स्वाभाविक पिता परमात्मा के) हृदय में जीवों के अपराधों का देखकर जब क्रोध उत्पन्न होता है तब श्रीलक्ष्मी जी के पुरुषकार के ही कारण भगवान जीवों के उस अपराध को सहन करते हैं।

भा० दी०—परमात्मा जीवों के स्वाभाविक पिता हैं, किन्तु उन्मार्गगामी जीवों के अपराधों को देख कर परमात्मा जीवों की शरणागति की उपेक्षा करके उन पर क्रोध करते हैं तो उस समय श्री लक्ष्मीजी उन जीवों की ओर से सिफारिश करती हैं कि प्रभो! इन अज्ञजीवों पर आप का क्रोध क्यों ? क्या एक पिता अपने पुत्रों के उपर इस प्रकार का क्रोध करता है? आपकी "क्षिपाम्याजस्रमशुभान् आसुरी ष्वेवयोनिषु' की प्रतिज्ञा क्यों ? स्वाभाविक पिता का अपने पुत्रों के प्रति क्रोध करना शोभा नहीं देता। और श्रीलक्ष्मी जी की इन बातों को सुनकर भगवान उन जीवों को क्षमा कर देते है।

१२८—"अस्या मातृत्वेनैतत् क्लेशासहत्वात् तस्य पत्नीत्वेनाभिमतविषयत्वादमोघः पुरुषकारः"

अनुवाद–श्रीलक्ष्मीजी का पुरुषकार अमोघ होता है, क्योंकि वे जीवों की जननी होने के कारण जीवों के क्लेशों को बर्दाश्त नहीं कर सकतीं तथा श्री भगवान् की प्रियतमा पत्नी होने के कारण उनका पुरुषकार भगवान् को

भी अभिमत है।

भा० दी०--श्रीलक्ष्मीजी जगन्माता हैं, अतएव वे अपने पुत्र जगत् के जीवों के क्लेश को नहीं देख सकती हैं। सांसारिक जीवों को दुखी देखकर श्री लक्ष्मीजी उनकी सिफारिश भगवान् से करती हैं, ताकि वे जीवों पर कृपा करें। श्रीलक्ष्मीजी भगवान् की प्रियतमा पत्नी हैं, अतएव वे श्रीलक्ष्मीजी की सिफारिश पुरुषकार की उपेक्षा कर सकते हैं। इसतरह श्रीलक्ष्मीजी का किया हुआ पुरुषकार विफल नहीं हो सकता है।

१२८-'हनूमन्तं क्षामयन्तीयं स्ववचनानुयायिनं क्षामयतीति किमु वक्तव्यम् ।'

अनु०--हनुमानजी को समझाकर राक्षसियों को क्षमा करानेवाली ये अपनी बातों का अनुसरण करने वाले भगवान् को समझा सकती हैं, अतएव इसके विषय में क्या कहना है?

भा० दी०--श्रीलक्ष्मीजी के पुरुषकार का उदाहरण श्रीरामायण में यहाँ दिया गया है। रावण वध के पश्चात् भगवान् के विजय का समाचार सुनाने के लिए श्रीहनुमानजी अशोक वाटिका में आये। उन्होंने समाचार सुनाने के पश्चात् श्री जानकीजी से निवेदन किया। मातः! आपका अपराध करने वाली इन क्रूर राक्षसियों का मैं चित्रवध करना चाहता हूं। श्रीहनुमान के इस वचन को सुनकर श्री जानकीजी ने कहा-हनुमान् राजा रावण के अधीन रहकर उसी की आज्ञा से मुझे दुःख देने वाली इन रावण

की दासियों पर कौन क्रोध करे ? कोई उत्तम पुरुष तो ऐसा कार्य नहीं करता है। चाहे ये पापी हों या शुभ हों अथवा बध कर देने के लायक हों इन पर आर्य व्यक्ति को तो दया ही करनी चाहिए। क्योंकि संसार का कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है कि वह अपराध न करे।

'राज संश्रय वश्यानां कुर्वन्तीनां पराज्ञया।
विधेयानां च दासीनां कः कुप्येद् वानरोत्तम।
पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणां प्लवङ्गम।
कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति।

इस तरह से श्री जानकीजी जब श्री हनुमानजी को समझाकर राक्षसियों को क्षमा प्रदान करवा दिया तब भगवान् से क्षमा प्रदान करवाने में क्या है ? जब कि श्री भगवान् महालक्ष्मीजी के बचनों के चाटुकार हैं।

१३०—मतुपा·उभयो; संबन्धो नित्य इत्युच्यते।

अनु०—मतुप् प्रत्यय श्री लक्ष्मीजी एवं भगवान् के संबन्ध की नित्यता को बतलाता है।

भा० दी०—श्रीमन् शब्द का मतुप् प्रत्यय बतलाता है कि श्री लक्ष्मीजी भगवान् के साथ सर्वदा ही रहा करती हैं। यहां पर मतुप् प्रत्यथ नित्य योग का वाचक है।

भूमनिन्दा·प्रशंसासु; नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥

अर्थात्—निन्दा अथवा प्रशंसा की अधिकता प्रशंसा नित्य योग, अतिशयता तथा संसर्ग की विवक्षा में मतुप् आदि प्रत्ययों के प्रयोग होते हैं।

१३१-'अनया सहैव वस्तुनः सत्ता'

अनु०-श्री लक्ष्मीजी के साथ में नित्य रहना ही भगवान् की वास्तविक स्थिति है।

भा० दी०—कहने का आशय है कि न तो कभी भगवान् ही श्री लक्ष्मीजी को छोड़कर अलग होते हैं और न तो श्रीलक्ष्मी जी ही। ये दोनों नित्य दम्पती है। श्रीजानकी जी स्वयं कहती हैं—

'अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा।'

अर्थात्—ऐ रावण ! मैं श्री राघवेन्द्र प्रभु से उसी तरह अभिन्न हूँ जिसतरह सूर्य से इसकी प्रभा अभिन्न है। स्वयं भगवान भी कहते है—

'अनन्या हि मया सीता भास्करेण प्रभा यथा'

यानी सूर्य से उसकी प्रभा के समान सीता मुझसे अनन्य है। वेद भी लक्ष्मीजी को अनपगामिनी बतलाता है। 'लक्ष्मीमनपगामिनीम्' श्री यामुना चार्य स्वामीजी स्तोत्ररत्न में भी परतत्त्व का निर्णय करते हुए भगवान को श्री लक्ष्मी का सर्वस्व बतलाते हैं—'कः श्रीः श्रियः'। अतएव श्री लक्ष्मीजी भगवान से कभी भी अलग नहीं होती हैं।

१३२-ईश्वरस्य स्वातन्त्र्यं चेतनानामपराधं च विचिन्त्य

न विश्लिष्यते ।

अनु०—श्री लक्ष्मीजी भगवान की स्वतन्त्रता और चेतनों के अपराधों का विचार करके कभी भी भगवान से अलग नहीं होती हैं।

भा० टी०—चेतनों के सर्व विध वन्धु अखिल जगत् के नियामिक भगवान यद्यपि अकारण करुणा वरुणालय हैं, फिर भी जीवों के उन्मार्ग गामित्व रूपी अपराधों को देखकर, 'उन्हें शिक्षा देने की दृष्टि से ही भगवान् जीवों पर क्रोध कर बैठते है। उस समय उनकी स्वाभाविक अनुग्रहात्मिकाशक्ति निग्रहात्मिका शक्ति से दब जाती है। और सहसा वे सकल्प करने लग जाते हैं।

'न क्षमामि कदाचन' मै इन कुमार्ग गामियों को कभी भी क्षमा नही कर सकता हूं।

भगवान इस तरह के दण्ड विधान में स्वतन्त्र हैं, उन्हें कोई रोक नही सकता है। श्री लक्ष्मीजी भगवान की इस स्वतन्त्रता को तथा चेतनों के नित्य अपराध करने के स्वभाव को देखकर भगवान् से जीवों को क्षमा कराने के लिए ही उनके साथ सदा बनी रहती हैं। जयन्त के अपराध को देखकर जब भगवान ने 'कः क्रीडति सरोषेण पञ्चवक्त्रेणभोगिनो।

अर्थात्—कौन है जो भयंकर पांच मुख वाले क्रुद्ध सर्प के समान काल दण्ड प्रदाता मेरे साथ खिलवाड़ कर रहा है?—इस प्रकार से क्रोध करके उसपर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर दिया

तो श्री जानकीजी ने उसका पुरुषकार करके उसे प्राण दान दिलाया ।

१३३—'एतदुभयानुसंधानेन चेतनैर्न भेतव्यम्-'

अनु०—चेतनों को इन दोनों का अनुसंधान करके डरना नही चाहिए।

भा० दी०—यद्यपि श्री भगवान् दण्ड का विधान करने में स्वतन्त्र हैं, और हम भी नित्य ही अपराधी हैं, किन्तु श्री लक्ष्मीजी उनके सन्निकट में हमेशा क्षमा प्रदान कराने के लिए रहा करती हैं। अतएव भगवान मुझे अवश्य क्षमा कर देंगे। इस बात को सोचकर जीवों को चाहिए कि भगवान् की शरणागति करने से न डरें।

१३४—एतेन—आश्रयणोरुचिरेवापेक्ष्य की, मापूत कालविशेष-प्रतीक्षेत्युक्तं भवति ।

अनु०—कहने का भाव यह है कि भगवान् की शरणागति करने के लिए रुचि ही आवश्यक है, पवित्र देश काल आदि की प्रतीक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

भा० दी०—यदि कदाचित मन में यह विचार उठे कि 'चूंकि मै पापी हूं अतएव अचानक ही मुझे भगवान् के शरण में जाना चाहिए, हो सकता है उचित समय न होने से वे क्रुद्ध हो जांय। अतएव मुझे पवित्र देश काल में ही उनकी शरणागति करनी चाहिए। तो इस प्रकार का विचार नहीं करना चाहिए। शरणागति

की रुचि ही अपेक्षित है, देश एवं काल विशेष की प्रतीक्षा नहीं। भगवान की शरणागति सभी देशों एव कालों में निःसकोच करनी चाहिए। यह मुतुप् शब्द वाच्च नित्य योग बतलाता है।

१३५–अस्याः सान्निध्येन काकः स्वशिरोलभत; असन्निधानेन रावणो हतः।

अनु०–इनके सान्निध्य के कारण काक (जयन्त) ने अपने शिर को पा लिया, और इनके सन्निकट में न रहने से रावण मारा गया।

भा० दी०—श्री लक्ष्मीजी के सन्निकट में रहने के कारण ही महापराधी जयन्त की जान बच गयी और चूँकि रावण बध के समय में श्री जानकोजो भगवान के साथ ही नहीं थीं अतएव रावण मारा गया। यद्यपि देखा जाय तो रावण का उतना अपराध नहीं था जितना कि अपराध जयन्त का था। फिर जयन्त को श्री जानकीजी की कृपा ने ब्रह्मास्त्र से बचा लिया।

पदम पुराण में बतलाया गया है कि श्री जानकीजी के सौन्दर्य को देखकर कामुक बना हुआ दुष्ट जयन्त उनके उन्नत स्तनों को तीव्र नखों से नोचने लगा।

'सदृष्ट्वा जानकीं तत्र कन्दर्पशर पीड़ितः।
विरराद नखै स्तीक्ष्णैः पीनोन्नत पयोधरौ।"

अतएव अकृत्याकरण रूप कायिक अपराध में वह प्रवृत्त हो गया यद्यपि रावण भी श्री जानकीजी के सौन्दर्य पर मुग्ध हैं और अपनी पत्नी बनाने के लिए कहता, किन्तु कोई कायिक

व्यापार नहीं करता है। श्री भगवान ने इन दोनों पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। किन्तु जयन्त पर कोप करने के समय श्री जानकीजी भगवान के साथ थीं, अतएव उनकी कृपा से वह बच गया।

पद्म पुराण में बतलाया गया है कि भय से कांपता हुआ जयन्त आकर पृथिवी पर गिर पड़ा। उसे गिरा हुआ देखकर श्री जानकीजी ने उसके शिर को भगवान के पैरों से लगा दिया और प्राण संकटापन्न उस कौवे को जगत व्याप्त भगवान राम से दया विभूत होकर कहने लगीं, भगवान आप इसकी रक्षा करें। श्री जानकीजी की बात सुनकर कृपा रूपी अमृत के समुद्र दाक्षिण्यगुण सम्पन्न भगवान राम ने अपने हाथों से उसे उठाकर उसकी रक्षा की उसे दया पूर्वक देखा।

'पुरत: पतितं देवी धरण्यां वायसंतदा,
तच्छिर: पादयोस्तस्य योजयामास जानकी।
प्राणसंशयमापन्नं दृष्ट्वा सीताथ वायसम्।
त्राहि त्राहीति भर्तारमुवाच दयया विभुम्।
तमुत्थाप्य करेणाथ कृपा पीयुष सागर:।
ररक्ष रामो गुणवान् वायसं दययैक्षत।

१३६—'पुरुषकार बलेन स्वातन्त्र्येऽन्तर्हिते समुन्मिषतो गुणान् कथयति नारायणपदम्।"

अनु०—पुरुषकार के द्वारा स्वातन्त्र्य के अभिभून किये जाने पर प्रकट होने वाले गुणों को नारायण पद बतलाता है।

भा० दी०—भगवान कल्याण गुणाकार हैं किन्तु चेतनों के अपराधों को देखकर उनकी स्वातन्त्र्य प्रयुक्त निग्रहात्मिका शक्ति उनकी अनुग्रहात्मिका शक्ति को दबा देती है जिसके कारण भगवान के आश्रयणोपयोगी गुण अभिभूत हो जाते हैं। श्री लक्ष्मीजी के पुरुषकार के द्वारा भगवान के वे गुण समुन्मिषित हो जाते हैं। इन्हीं गुणों को नारायण पद बतलाता है।

१३७—'ते च वात्सल्य, स्वामित्वं, सौशील्यं, सौलभ्यं, ज्ञानं शक्तिश्च।'

अनु०—नारायण पद से कहे जाने वाले वे गुण निम्न ये हैं—[१] वात्सल्य [२] स्वामित्व [३] सौशाम्य [४] सौलभ्य [५] ज्ञान और [६] शक्ति।

१३८-स्वापराधविमर्शननिबन्धनभयाभावायवात्सल्यम् कार्यं नः करिष्यतीति दार्ढ्याय स्वामित्वम्, स्वामित्वदर्शनेनापसरणाय सौशील्यम्, दृष्ट्वाश्रयणायसौलभ्यम्, विरोधिनिरसनपूर्वकस्वात्मदानायज्ञानशक्ती।

अनु—अपने अपराध का विचार करने से उत्पन्न भय का नाश भगवान के वात्सल्यगुण का अनुसंधान करने से होता है। भगवान हमें मोक्ष अवश्य प्रदान करेंगे इस प्रकार की दृढ़ता (रूपी महाविश्वास भगवान के स्वामित्व गुण का अनुसंधान करने से होता है। स्वामित्व प्रयुक्त संकोच मिटाने के लिए सौशील्य गुण का

अनुसंधान करना चाहिए, दर्शन एवं आश्रयणोपयोगी भगवान के सौलभ्य गुण हैं। विरोधियों को दूर कर हमारे अभिष्ट को देने वाले भगवान के ज्ञान एवं शक्ति नामक गुण हैं।

भा० दी०–श्रीमन्त्र की व्याख्या में नारायण पद का व्यापक अर्थ बतलाया गया है, किन्तु प्रस्तुत प्रकरण में उतने व्यापक अर्थ की आवश्यकता नहीं है। अतएव प्रकरणा अनुसार भगवान के आश्रयणोपयोगी छहगुण नारायण पद वाच्य बतलाएं गये हैं। वे गुण हैं—

[१] वात्सल्य–गुण की व्याख्या करते हुए श्री वरवरमुनि स्वामीजी कहते हैं कि गौ के समान स्थिति को वात्सल्य कहते हैं।

अपने वात्सल्य गुण के ही कारण गौ अपने बच्चे के मलों को स्वयं अपने जीभ से चाटकर साफ कर देती है। अपना दूध पिलाकर बच्चे का पालन–पोषण करती है। उस समय यदि बछड़े को कोई दूध पीने से रोकना चाहे तो उसे शृङ्गों से मारकर दूर भगा देती है और बच्चे की रक्षा करती है। इस तरह वात्सल्य गुणाकार भगवान अपने आश्रित भक्तों के दोषों को ही अपना भोग्य मान लेते हैं। वात्सल्य गुण के ही कारण वे शरणागत के दोषों को भी गुण मानने लगते हैं। और उनकी रक्षा करते हैं। तथा शरणागत जीवों के विषय में प्रतिज्ञा करते है कि मै अपने भक्तों को कभी नहीं छोड़ सकता हूं।

यदि यहां पर यह कहा जाय कि भगवान हमारे दोषों

को गुण के समान मानकर भी हमारे उद्धार करेंगे यह कैसे कहा जा सकता है। तो इसके लिए भगवान के स्वामित्व गुण का अनुसंधान करना चाहिए। स्वामी मालिक को कहते हैं। अर्थात् भगवान हमारे स्वामी हैं और हम उनके स्व (धन) हैं। जिस तरह कोई धनवान व्यक्ति अपने स्वधन को संभालता है, उसी तरह भगवान भी हमारी रक्षा अवश्य करेंगे यह विश्वास रखना चाहिए।

यह सोचकर कि हम कीट के जैसे नगण्य जीव उभय विभूति नायक लक्ष्मी पति भगवान से कैसे मिल सकते हैं। तो इसके लिए भगवान के सौशिल्य गुण का अनुसंधान करना चाहिए। इस गुण के ही कारण भगवान दरिद्र सुदामा और निषादराज से विना किसी दुराव के मनसा वाचा कर्मणा मिलकर उन्हें अङ्क मालिका प्रदान करते हैं।

यदि कहा जाय कि जिन भगवान को वेद अवाङ्मनस गोचर बतलाते हैं, उनका मुझे कैसे साक्षात्कार हो सकता है? तो इसके लिए भगवान के सौलभ्य गुण का अनुसंधान करना चाहिए। इसी गुण के कारण भगवान भक्तों के बन्धन में बंध जाते है। अतः उनके आश्रयण में कोई कठिनाई नहीं है। ये भगवान अपने सर्वज्ञता नाम का गुण के कारण हमारे सभी पापों को दूर कर अपने विविध विचित्र शक्ति के द्वारा हमें दिव्य सूरियों की गोष्टी में बैठा देंगे। यहां पर नारायण शब्दाभिधेय रूप से यह छह गुण अभिप्रेत हैं। इनमें प्रथम चार गुण भगवान

के आश्रयणोपयोगी गुण हैं और अन्तिम दो गुण आश्रित जीवों के कार्यों के आपादक हैं।

१३९—अत्रोक्तस्य सौलभ्यस्य सीमाभूमिरर्चावतारः

अनु०—प्रकृत भगवान के सौलभ्य की पराकाष्ठा भगवान का आर्चावतार है।

भा० दी०—श्रीविशिष्टद्वैत सिद्धान्त में भगवान की स्थिति पांच प्रकार से मानी गयी है। पर वासुदेव रूप से श्री वैकुण्ठ में, व्यूह रूप से क्षीर सागर आदि स्थानों में, श्री रामकृष्णादि रूप से त्रेता आदि युगों में, अन्तर्यामी रूप सबों के हृदय में और अर्चावतार रूप से श्रीरङ्गम् वेकंटाद्रि आदि में दृष्टि गोचर होने वाली श्रीरङ्गनाथ आदि मूर्ति रूप में विराजमान हैं। भगवान का जो आश्रयणोपयोगी सौलभ्य गुण है उसकी पराकाष्ठा उनके अर्चावतार में पाया जाता है। क्योंकि इस रूप में आश्रित व्यक्ति के अनुकूल ही द्रव्यों को भगवान अपने विग्रह रूप में स्वीकार करते हैं, तथा आश्रित व्यक्ति के अधीन अपनी स्थिति बनाये रखते हैं।

१४०—"अयं च न परव्यूह विभववत् अपितु अक्ष्णोर्दर्शनीयः।"

अनु०—पर व्यूह, विभव रूपों की भांति भगवान का यह रूप दुर्लभ नहीं, है, अपितु इस रूप का दर्शन हम सभी अपने नेत्रों से कर सकते हैं।

भा० दी०—भगवान के पर रूप का दर्शन तो नित्य मुक्त जीव ही कर सकते हैं, व्यूह रूप का दर्शन करने में समर्थ इन्द्रादि देवता आदि हैं। विभव रूप का दर्शन ततकाल एवतद्देशवर्ती जीव ही कर सकते हैं, अन्तर्यामी का दर्शन भी योगीजन ही कर सकते हैं। अतएव भगवान के इन चार रूपों को हम जैसे संसारीजन अपने नेत्रों से नहीं देख सकते हैं। किन्तु भगवान को अर्चावतार रूप है उसका तो दर्शन हम सभी लोग अपने नेत्रों से कर सकते हैं।

१४१—सर्वमिदमस्माभिः श्रीरङ्गनाथे द्रष्टुं शक्यते

नारायणपदोक्त इन सभी गुणों का दर्शन हम श्रीरङ्गनाथ भगवान में कर सकते हैं।

१४२—दिव्यायुध धारिभिर्हस्तैः; अभयमुद्रान्वितो हस्तेन; दिव्य किरीट मुकुटेन, मन्दहासाञ्चित वदनेन, आसनपद्मविन्यस्ताभ्यां पद्भ्यां च। सहावस्थितिरेवास्माकं शरणम्।

अनु०—दिव्य आयुधों को धारण करने वाले हाथों, अभयमुद्रायुक्त हाथ, दिव्य किरीट मुकुट, मन्द मुसुकान शोभित मुखारविन्द, और आसन कमल पर रखे हुए चरणारविन्द के साथ विद्यमान भगवान की स्थिति ही हमारी रक्षिका है।

भा० दी—भगवान श्री रङ्गनाथ के श्रीहस्त में विद्यमान शंख चक्र उनके ज्ञान और शक्ति नामक गुणों की सूचना देते हैं। शंख ज्ञान का तथा चक्र शक्ति का सूचक है। भगवान के

हाथ की मुद्रा उनके वात्सल्य को द्योतित करती है। भगवान का दिव्य किरीट मकुट, उनके स्वामित्व को सूचित करता है, क्योंकि स्वामी का किरीट धारण युक्ति युक्त है। भगवान का मन्द मुसुकान शोभित मुखारविन्द उनके सौशिल्य नामक गुण को बतलाता है। आसन कमल पर विन्यस्त भगवान के श्री चरणों का दर्शन करके ही उनके सौलभ्य गुण का अनुभव किया जा सकता है। इस तरह से विद्यमान जो भगवान श्रीरङ्ग नाथ हैं उनकी इस प्रकार की स्थिति ही हमारी रक्षा करने में पूर्ण समर्थ है।

१४३—रक्षकत्वभोग्यत्वे उभे अपि दिव्यविग्रहे प्रकाशेते।

अनु०–(भगवान श्रीरङ्गनाथ के) दिव्य विग्रह में [आश्रित जनोपयोगी] रक्षकत्व एवं भोग्यत्व ये दोनों गुण प्रकाशित होते हैं,

भा० दी०–प्रपन्न जन भगवान को ही उपाय और उपेय दोनों मानते हैं। द्वयमन्त्र के पूर्वार्द्ध में श्रीभगवान को उपाय रूप से ही बतलाया गया है। यह अभी बतलाया गया है कि भगवान श्रीरङ्गनाथ के दिव्य मंगल विग्रह में उनके आश्रयणोपयोगी वात्सल्य, स्वामित्व सौशील्य, सौलभ्य, ज्ञान एवं शक्ति छह गुण देखे जाते हैं। इस सूत्र में भगवान श्रीरङ्गनाथ के दिव्य विग्रह मे उपेयत्व के अनुकूल भी अंश बतलाये गये हैं। जिस तरह संसार की सुन्दर वस्तुएं उपभोग्य होती हैं, उसी तरह भगवान के दिव्य मंगल विग्रह में विद्यमान दिव्य आयुधधारी हाथ

भगवान के अभयमुद्रा युक्त हाथ, तथा मन्द मुसुकानसेवित मंजुल मुखार विन्द की मधुरिमा और आसनार्थ कल्पित दिव्यारविन्द पर विन्यस्त पादारविन्द, ये सभी अत्यन्त मनोमोहक एवं उपभोग्य है, अतएव ये उपेय भी है। भगवान के करकञ्ज में कलित पाञ्चजन्य के पुण्य स्पर्शमात्र ने पञ्चवर्षीय बालक ध्रुव को मुखर बना दिया। श्रीयामुनाचार्य स्वामी तो कहते हैं कि प्रभो! आपके अमृतस्रावी चरणारविन्दों की सुषमा ने जिसका मन आसक्त हो गया, वह किस प्रकार किसी अन्य पदार्थ की कामना कर सकता है? भला परागपूर्ण विकसित पद्म पुष्पों का परित्याग करके कोई भ्रमर कमल के बीजों को देखता भी है?

"तवामृतस्यन्दिनि पादपंकजे, निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति।
स्थितेऽरविन्दे मकरन्द निर्भरे, मधुव्रतो नेक्षुरकं हि वीक्षते।

१४४—चरणौ-श्रीपादौ

अनु०—द्वय मन्त्र का चरणौ शब्द भगवान के दोनों चरण कमलों को बतलाता है।

१४५—अनेन (द्विवचनेन) साहित्य सौन्दर्यमुपायपूर्तिश्चोच्यते।

अनु०—चरणौ शब्द में प्रयुक्त इस द्विवचन के द्वारा भगवान के दोनों चरणों में समान रूप से विद्यमान परस्पर निरपेक्ष सौन्दर्य और उपाय की पूर्ति बतलायी गयी है।

भा० दी०—चरणौ शब्द द्वितीया विभक्ति के द्विवचन का रूप है। इसका अभिप्राय है कि भगवान के दोनों चरण कमलांकित इन चरणों में सौन्दर्य समान रूप से हैं। अतएव इनके परस्पर निरपेक्ष आकर्षक होने के कारण इनका आभोग्यत्व भी समान रूप से सिद्ध होता है। साथ ही यह द्विवचन यह भी बतलाता है कि भगवान के दोनों चरणों को छोड़कर कर कोई दूसरा रक्षा का साधन नहीं है।

१४६—लक्ष्म्यां भगवति च परित्यजतोरपि चरणौ न परित्यजतः।

दाढ्यवन्तौ भवतश्चरणौ।

अनुवाद—श्री लक्ष्मीजी तथा भगवान के कभी अपने आश्रितों का परित्याग कर देने पर भी भगवान के दोनों चरण अपने आश्रितों को नहीं छोड़ सकते हैं, अतएव आपके चरण दाढ्य गुण सम्पन्न हैं।

भा० दी०—लोक में देखा जाता है कि अत्यन्त अपराधी पुत्र का कभी माता भी त्याग कर देती है, इसी तरह पुरुषकार भूता लक्ष्मीजी भी अपने आश्रितों का कभी त्याग कर सकती हैं, भगवान भी अपने आश्रितों के अपराधों को देखकर उनका त्याग सकते हैं, किन्तु भगवान के चरणों की यह महिमा है कि वे अपने आश्रितों का त्याग नहीं कर सकते हैं। कहने का आशय है कि यदि भगवान के चरणों को पकड़ लिया जाय तो फिर

भगवान उस जीवको त्याग नहीं सकते हैं, अतएव भगवान के चरणों में आश्रित संरक्षणोंपयोगी दृढ़ता अधिक है। भगवान के चरण पकड़ने से अपना शेषत्व अभिव्यक्त होता है, क्योंकि स्वामी के चरणों को पकड़ना शेष का स्वरूप भी है।

१४७-शेषिसन्निधौ शेषस्यात्रतरणस्थानम् यथा प्रजा स्तनयोर्वदनं विद्धाति।

अनु०-शेषी (दोनों चरणों) के ही सन्निकट में शेष के उतरने की घाट है, जिस तरह दुधमुहां बच्चा माँ के स्तनों पर ही अपना मुखड़ा लगाता है।

भा०दी०-आश्रित जनों को भगवान के श्री चरणों का ही आश्रयण करना चाहिए। जिस तरह दूधमुहां बच्चा माता के अन्य आवयवों पर ध्यान न देखकर माता के स्तन में ही अपना मुखड़ा लगाता है, उसके आकर्षण का केन्द्र माता का स्तन ही है। उसीतरह आश्रितों के आकर्षण का स्थान भगवान के चरणारविन्द ही हैं। स्तोत्ररत्न में श्री यामुनाचार्य स्वामीजी भी कहते हैं—भगवान यदि आप मुझे त्याग भी दें तो भी में आपके चरण कमलों को नहीं छोड़ सकता। क्रुद्ध माता के द्वारा छोड़ दिये जाने पर भी दूधमुहां बच्चा कभी माता के चरणों को नहीं छोड़ना चाहता है।

'निरासकस्यापि न तावदुत्सहे, महेश हातुं तव पादपंकजम्
रुषा निरस्तोऽपि शिशुस्तनन्धयो न जातु मातुश्चरणौनिहासति

१४८-अनेन लक्ष्म्या वासस्थानम्, गुण प्रकाशकः, शिशुपालस्यापि विनयन पूर्वक मङ्गीकर्ता च श्रीविग्रहस्मर्यते ।

अनु०-इस 'चरणौ पद के द्वारा श्री लक्ष्मीजी का वास स्थान, गुणों के प्रकाशक, शिशुपाल को भी नम्र बनकर उसे स्वीकार करने वाले भगवान के दिव्य मंगल विग्रह का स्मरण किया जाता है।

भा० दी०-यह चरण शब्द भगवान के दिव्य मंगल विग्रह का ही सूचक है। भगवान का यह दिव्य मगल विग्रह श्री लक्ष्मीजी का वास स्थान है। 'तद् वक्षस्थल नित्यवासरसिकाम्' के अनुसार श्रीलक्ष्मीजी का निवास स्थान भगवान का वक्षस्थल है। तथा नारायण पद से कहे गये वात्सल्य सभी गुणो का भी प्रकाशक है। यद्यपि शिशुपाल भगवान का विरोधी था फिर भी वह भगवान के श्री विग्रह का ही स्मरण करता रहता था और अन्त में भगवान मे ही प्रविष्ट हो गया।

१४९-शरणम्-इष्टप्राप्तेरनिष्ट निवारणस्य चा मोघ साधनत्वेन

अनु०-इष्ट की प्राप्ति का तथा अनिष्ट की निवृति (दूर करने) के अमोघ साधन रूप से।

भा०दी-ऊपर के सूत्रो में चरणों शब्द की व्याख्या की गयी इस सूत्र में शरणम् पद की व्याख्या की जा रही है। यह

बतलाया जा रहा है कि भगवान के चरण ही हमारे ऐसे अमोघ साधन हैं जिनके द्वारा भगवान की प्राप्ति रूपी फल की उपलब्धि और अनिष्ट का निवारण सभव है।

श्री लोकाचार्य स्वामीजी ने आश्रित जनो अनिष्ट एवं इष्ट की चर्चा करते हुए 'श्रियः पति पडि' नामक रहस्य ग्रन्थ में बतलाया है कि अविद्या, के कार्यभूत राग एवं द्वेषः, पुण्य-पाप रूप कर्म, देव, मनुष्य, तिर्यक् एवं स्थावर, ये चार प्रकार के शरीर तथा आध्यात्मिक आधि दुःखों की परम्परा ये सभी मुमुक्षु जीवों के लिए अनिष्ट हैं। अर्चिरादि मार्ग से गमन, परम पद की प्राप्ति, परमात्मा का दर्शन, और उनके गुणों का अनुभव तथा कैंकर्य ये सभी मुमुक्षु जीवों के इष्ट हैं। श्री लोकाचार्य स्वामीजी ने परन्दपदि नामक रहस्य ग्रन्थ में इसकी विस्तार पूर्वक चर्चा की है।

१५०-अनेन प्राप्यमेव प्रापकमित्युच्यते ;

अनु०-इस शरण पद के द्वारा प्राप्य परमात्मा को ही प्राप्ति को साधन रूप से बतलाया जा रहा है।

भा० दी०-पहले जो प्राप्य रूप से भगवान का श्री विग्रह बतलाया गया था उसी को यहां पर प्राप्ति का साधन बतलाया जा रहा है।

१५१—पूर्वमुक्तं त्रयमपि प्राप्यं खलु ।

अनु०— पहले बतलाये गये तीनो ही प्राप्य हैं ।

भा० दी०—चरणौ शब्द की व्याख्या में बतलाया गया है कि चरण शब्द से तीन बातें अभिप्रेत हैं-[१] श्रीलक्ष्मीजी का सम्बन्ध, २- कल्याण गुण युक्तत्व तथा ३- श्रीभगवाण् का दिव्य मंगल विग्रह । प्रपन्न जीवों के द्वारा ये तीनो प्राप्य हैं ।

१५२—चेतनोऽयमन्यथानुपपत्त्या साध्यमेवसाधनीकरोतिपरम् ।

अनु०—गत्यन्तर के अभाव में प्रपन्न जीव साध्यभूत परमात्मा को ही साधन बना लेता है ।

भा० दी०—यहां शंका होती है कि साध्य ही साधन कैसे हो सकता है । क्यों कि साध्य फल को कहते हैं और साधन कारण को कहते । अतएव साध्य और साधन में भेद का होना आवश्यक है । तो इसका उत्तर है कि भगवान् की प्राप्ति साध्य है । और साध्य के लिए साधन का होना आवश्यक है । भगवान् प्राप्ति रूपी साध्य के लिए अकिञ्चन और अनन्यगति प्रपन्न पास कोई साधन नहीं है अतएव वह साध्यभूत परमात्मा को ही साधन बना लेता है ।

१५३—"चरणौ शरणम्-इत्यनेनोपायान्तरव्यावृत्त उपाय इत्युच्यते ।

अनु०—प्राप्य चरणों को ही उपाय बतलाकर यह सूचित किया गया है कि यह उपाय अन्य उपायों से विलक्षण है ।

भा० दी०—इस साधन की अन्य साधनों से यह विलक्षणता है कि अन्य जितने साधन होते हैं वे सबके सब अपने साध्य से भिन्न हुआ करते हैं किन्तु यह तो साध्य से अभिन्न ही हैं।

१५४—प्रपद्ये—आश्रयामि ।

प्रपद्ये इस क्रिया का अर्थ है कि—आश्रयण करता है।

भा० दी०—पद् गतौ धातु से प्रपद्ये क्रिया की सिद्धि होती है। यहां पर गति तत्प्राप्त्य नुकूल व्यापार रूपा है। अभिप्राय कि मै भगवान् के श्रीचरणों को ही उपाय रूप से स्वीकार करता हूं।

१५५—वाचिक कायिकाश्रयणेऽपि फलस्य हानिर्नास्ति; ज्ञानान्मोक्ष इत्युक्तत्वात्; मानसेन भवितव्यम् ।

वाणी और शरीर से भी आश्रयण करने पर भी फल में कोई हानि नहीं होगी फिर यह आश्रयण मानसिक होना चाहिये क्यों कि ज्ञान से मोक्ष होता है, यह कहा गया है।

भा० दी०—प्रस्तुत सूत्र में यह बतलाया गया है कि यद्यपि शरणागति तीन प्रकार की होती है—१-कायिक—जैसे भगवान् के सामने हाथ जोड़ना, साष्टाङ्ग प्रणिपात करना आदि। २-वाचिक—हें भगवान् मै आप को सरण रूप से स्वीकार करता हूं। (त्वाहमं शरणं प्रपद्ये) इस तरह से बोलकर। शरणागति-३—मानसिक हृदय से भगवान् को अपना रक्षक समझना। किन्तु यहां पर मानसिक शरणागति ही बतलायी जा रही है। क्योंकि ज्ञान से ही मोक्ष बतलाया गया है। और मानसिक

शरणागति ज्ञान स्वरूपा ही है अब प्रश्न उठता है। कि कायिक और वाचिक शरणागति करने का महत्त्व कम है क्या ? तो इसका उत्तर है, कि उन शरणागतियों के भी करने पर फल में कोई कमी नहीं होती है।

१५६–भगवत एवोपायत्वात्; एषां साक्षादुपायत्वाभावाच्च, त्रिभिरपि भाव्यम्, इति नास्ति निर्बन्धः।

अनु०–चूँकि भगवान् ही साक्षात् उपाय हैं, अतः इन तीनों प्रकार की शरणागति साक्षात् उपाय नही है, अतएव इन तीनों प्रकार की शरणागतियों के करने का कोई बन्धन नहीं हैं।

भा० टी०––उपर यह बतलाया गया है कि शरणागति तीन प्रकार की होती है, कायिक, वाचिक और मानसिक। अब यहांपरप्रश्न उठताहैकिकौनसी शरणागति करनी चाहिएअथवातीनों प्रकार की शरणागति करनी चाहिये क्या? यह शंका होने पर उत्तर देते हैं कि मोक्ष के साक्षात् प्रदाता तो भगवान् ही है, इसीलिये अभी उपर उनको उपाय और उपेय दोनो प्रकार से बतलाया गया है। उपाय रूप से भगवान के स्वीकार करने का ही नाम शरणागति है। इसके लिए यदि हम कायिक और वाचिक शरणागति रूप से भगवान् को हथ जोड़ते हैं, प्रणाम करते हैं, तो भी कोई आपत्ति नहीं हैं। फिर भी मुख्य शरणागति मानसिक है। इसमें कोई बन्धन नहीं है कि तीनों प्रकार की शरणागति की जाय ही।

१५७—'वर्तमान निर्देशः सत्त्वोद्रेकेण भये सत्यनुसंधानार्थम् ।

प्रपद्ये पद से वर्तमान कालिक शरणागति का निर्देश इसलिए किया गया है कि सत्वगुण के उद्रिक्त होनेपर (स्वनिष्ठित उपाय एवं उपेय को) भय उत्पन्न होने पर पूर्वकृत शरणागति का अनुसंधान होता रहे ।

भा० दी०—शंका होती है कि मन्त्र में वर्तमान कालिक क्रिया प्रपद्ये का प्रयोग किया गया है। ऐसी स्थिति में जब जब हम मन्त्र का उच्चारण करें तो न मनसा सही वचसा तो शरणा गति हो ही जायेगी। और शरणागति को एक वार ही करने के लिए बतलाया गया है। फिर इन दोनों बातो की संगति कैसे होगी ? तो इसका उतर है कि—शरणागति तो एक वार ही की जाती है। फिर भी हम जवतक संसार में रहते हैं तब तक तो रजोगुण और तमोगुण बने ही रहेंगे। और वे सत्त्व गुण को अभिभूत करके स्वयं ही उद्रिक्त हो जायेंगे। रजगुण के उद्रिक्त होने से उपायान्तर में भी प्रवत्ति हो जाती है। तमोगुण के उद्रिक्त होने पर चोरी करना, हिंसा करना आदि उपायान्तर में प्रवत्ति होती है। किन्तु जब सत्वगुण उद्रिक्त होता है तो फिर उसके लिए पश्चात्ताप और भय होता है। उसी को मिटाने के लिए पूर्वकृत शरणागति का अनुसंधान करने के लिए वर्तमान कालिक क्रिया पद का प्रयोग किया गया है।

१५८—उपायान्तरेषु मनसोऽगमनाय, कालक्षेपाय च भोग्यतया

परित्यागासम्भवाच्चानुवर्तेत।

अनु०–दूसरे उपायों (कर्मयोग ज्ञानयोग आदि) में मन न लगे, तो समय बिताने के लिए, एवं अत्यन्त भोग्य [अनुकूल] होने के कारण तथा उसका परित्याग असंभव होने के कारण, उसका (शरणागति का) सदा अनुसंधान होते रहना चाहिए।

भा० दी०—इस सूत्र में वर्तमान कालिक क्रिया पद के तीन प्रयोजन बतलाये जा रहे हैं।

१–पूर्वजन्मों की वासना के कारण कहीं मन कर्मयोग आदि शरणागतिव्यतिरिक्त अन्य उपायों में न लग जाय, इसके लिए वर्तमान कालिक क्रिया का प्रयोग किया गया है।

२–भगवान् की शरणागति रूपी उपाय रूप से उनका अनुसंधान किये विना कोई समय बीत न जाय। इस अर्थ को बतलाने के लिए वर्तमान् कालिक क्रिया का प्रयोग किया गया है। बतलाया भी गया है कि भगवान् के चिन्तन किये विना कोई मुहूर्त अथवा क्षण बीत गया तो जीवन की वही सबसे बड़ी हानि, छिद्र और विकार हैं। "यन्मुहूर्तं क्षणं वाऽपि वासुदेवो न चिन्त्यते। साहानिस्तन्महच्छिद्रं साभ्रान्तिः सा च विक्रया।"

भगवान् का ध्यान किये विना एक भी मुहूर्त के बीत जाने पर चोरों द्वारा संपत्ति के चुरा लिए जाने के समान अत्यन्त करुण क्रन्दन करना उचित ही है

"एकस्मिन्नप्यतिक्रान्ते मुहूर्ते ध्यानवर्जिते।
दस्युभिर्मुषितेनेव युक्तमाक्रन्दितुं भृशम्॥"

३- जिस तरह २१वेंसूत्र में श्रीमन्त्र को प्रपन्न जनों का अत्यन्त भोग्य बतलाया गया है उसी तरह द्वयमन्त्र भी प्रपन्न जनों का अत्यन्त भोग्य है। अतएव उनके सतत अनुसंधान होते रहने के लिए वर्तमान कालिक निर्देश क्रिया का प्रयोग किया गया है

१५९—प्राप्यसिद्धयेऽसकृदावश्यकमिति बुद्धौ, उपायः अच्युतो भवेत्।

अनु०—यदि यह कहा जाय कि भगवान की प्राप्ति रूप प्राप्य की सिद्धि के लिए बार-बार शरणागति को आवश्यक है (तो यह नही कहा जा सकता है क्योंकि ऐसा मानने पर) उपाय विफल हो जायेगा।

भा० दी०-यदि यह कहा जाय कि उपर्युक्त तीन प्रयोजनों को वर्तमान निर्देश का फल न मानकर यही माना जाय कि सतत शरणागति करते रहने से चूँकि प्राप्य की सिद्धि अवश्य होगी अतएव वर्तमान क्रिया का प्रयोग किया गया हैं, तो यह नहीं कहा जा सकता है। भगवान सिद्धोपाय एवं सहायकान्तरनिर-पेक्षउपाय हैं। उनकी प्राप्ति तभी संभव है जब कि अपने किये हुए उपायों पर भरोसा न करके पूर्वकृत शरणागति का अनुसं-धान करतेहुए अपना सारा भार भगवान पर ही छोड़ दिया जाय।

१६०-उत्तरवाक्येन प्राप्यमुच्यते।

अनु०—द्वयमन्त्र के उत्तरार्द्ध द्वारा प्रपन्नजनों के प्राप्य

का निर्देश किया गया है ।

भा०दी०-प्रपन्नों के प्राप्य सर्वों के स्वामी लक्ष्मी पति भगवान के चरण युलों का कैंकर्य ही है। श्री यामुनाचार्य स्वामी भी भगवान के कर्य को ही अपना प्राप्य मानकर कहते हैं-'भगवान ! मै कब आपके एकान्तिक एवं नित्य किंकर बनकर अपने जीवन को सनाथित करते हुए आपको प्रपन्न करूंगा ।

'कदाहमैकान्तिक नित्य किंकरः
प्रहर्षयिष्यामि सनाथजीवतम् ।

१६१—न प्राप्यान्तरार्थ मिति यावत् ।

अनु०-अर्थात् पूर्वोक्त उपाय स्वीकार (भगवत् कैंकर्य के सिवा अन्य फलों के लिए नही है ।

भा०दी०-यद्यपि जीवन के चार पुरुषार्थ बतलाये गये हैं-धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष । इन चारों पुरुषार्थों में मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है । अतएव उसी पुरुषार्थ रूपी फल की प्राप्ति के लिए पूर्व वाक्य में भगवान को उपाय रूप से स्वीकार किया गया है ।

१६२-उपायान्तराणि परित्यज्य चरमोपाय स्वीकार वत् उपेयान्तरं ऐश्वर्य कैवल्ये परित्यज्य परम काष्ठाभूतं प्राप्य मर्थ्यते ।

अनु०-जिस तरह दूसरे उपायो का परित्याग करके अन्तिम उपाय शरणागति को स्वीकार किया गया है, उसी तरह ऐश्वर्य एव कैवल्य रूप फलों का परित्याग करके सर्वोत्कृष्ट प्राप्य मोक्ष की याचना की जाती है ।

भा०दी०-प्रपन्न जन मोक्ष के साधन रूप से शास्त्रों में वर्णित कर्म योग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि को स्वीकार न करके अन्तिम एवं सर्वोत्कृष्ट उपाय शरणागति को ही अपनाते हैं।

उसी तरह वे जीवन में अपनी इस शरणागति का फल लौकिक धर्म- अर्थ- काम तथा कैवल्य आदि को नहीं चाहकर केवल नित्य ऐकान्तिक भगवत्कैंकर्य रूप मोक्ष को ही प्राप्त करना चाहते हैं।

१६३—किन्नित्यनेन प्रार्थनं कार्यम् ? सर्वज्ञस्सोऽस्याभिप्रेतं न जानाति किमिति चेत् ।

अनु०—यदि कोई पूछे कि इस उत्तरार्द्ध से प्रार्थना करने की क्या आवश्यकता है ? सर्वज्ञ परमात्मा अपने आश्रितो के अभिप्रेत पदार्थ को नहीं जानता है क्या ? तो इसका उत्तर देते हैं।

१६४—अस्य वचन श्रवण मात्रेण तस्य मनः परितुष्यति ।

अनु०—आश्रित जीवो की प्रार्थना सुनकर परमात्मा का मन अत्यन्त प्रसन्न होता है।

भा० दी०—जीव अनादि काल से संसार चक्र में पड़ा हुआ केवल सांसारिक क्षुद्र भोगोको ही मागता रहा। वही जब अपने भगवत् शेषत्व रूप स्वस्वरूप को समझ जाता है तो भगवान से उनके कैंकर्य रूप अपने वास्तविक भोग्य पदार्थ की याचना करता है। जिस तरह कोई रोगी बालक बहुत दिनों के बाद खाने के लिए अन्न मांगता है तो उसकी मां का मन अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है- उसी तरह वात्सल्य सागर प्रभु जीवों द्वारा स्वकीय कैंकर्य की प्रार्थना सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हो जाते हैं।

१६५,६६—श्रीमते = लक्ष्मी सहितस्य ।

अनु०—उत्तरार्द्ध के श्रीमते पद का अर्थ है कि सदा श्री लक्ष्मी जी के साथ रहने वाले भगवान के ।

१६७—तस्योपायता दशायामियं पुरुषकारी भवति । तस्य प्राप्यता दशायामियमपि प्राप्य भूता कैंकर्य वर्धिका च भवति ।

अनु०—जिस समय जीव के इष्ट की प्राप्ति के उपाय भगवान होते हैं उस समय लक्ष्मी जी पुरुषकार करने वाली हो जाती है, उनके प्राप्य होने पर तो ये भी जीवों के प्राप्य और कैंकर्य को बढ़ाने वाली बन जाती हैं ।

भा० दी०—पूर्व वाक्य में श्रीमत् शब्द का अर्थ करते हुए बतलाया गया है कि श्री लक्ष्मी जी सदा भगवान् के साथ रहती हैं । जिस समय भी अपने इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति भूत उपाय रूप से भगवान को अपनाता है- उस समय सहायकान्तर निरपेक्ष साधन होने से श्रीलक्ष्मी जी उपाय न बनकर जीवों की सिफारिश करने वाली बन जाती हैं । जिससे कि भगवान जीवों के अपराधों को देखकर उनका अपमान न कर दें । और अपनी अहेतुकी कृपा के द्वारा जीवों को अपना लें । किन्तु जिस समय भगवान प्राप्य होते हैं, उस समय तो भगवान के ही समान उनकी नित्य सहचरी श्री लक्ष्मी जी भी प्राप्य हो जाती हैं । उस समय श्री लक्ष्मी जी जीवों के कैंकर्य को बढ़ाती हैं । अर्थात् एक

सामान्य कैंकर्य को भी उसको दसगुना वढाकर भगवान को सुनाती है जिससे भगवान अत्यन्त प्रसन्न होते हैं।

१६८—अत्र श्री मन्त्रोक्तं प्राप्यं बिशद मनु सन्धीयते ।

अनु०–इस उत्तरार्द्ध में श्रीमन्त्र में नारायणाय पद से कहे गये प्राप्य को स्पष्ट रुप से अनुसंधान किया जाता है ।

भा० दी०–श्रीमन्त्र के नारायणाय पद की व्याख्या में बतलाया गया है कि भगवानके कैंकर्य की प्रार्थना करनी चाहिये। इसके विवरण भूत द्वय मन्त्र में प्राप्य के अस्पष्ट स्वरूप को स्पपष्ट किया गया है । वहां पर भगवान का श्री लक्ष्मी जी का नित्य सम्वन्ध नहीं स्पष्ट है, तथा यह भी नहीं बतलाया गया है कि जीव को ममकार की भावना का त्यागकर देना चाहिये । यहां पर इन दोनों बातों को स्पष्ट रूप से बतलाया गया है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि श्री लक्ष्मी विशिष्ट भगवान् का ही कैंकर्य करना चाहिये यह कैसे कहा जा सकता है ?— तो इसका उत्तर है कि—

१६९—लक्ष्मण वन् मिथुनता दशायां कैंकर्या चरणं स्वारूप-प्राप्तम् ।

अनु०–श्री लक्ष्मण जी के समान सम्मिलित दोनों का ही कैंकर्य (सेवा) करना उचित है ।

भा० दी०–श्रीलक्ष्मण जी ने भगवान से श्री जानकी जी तथा श्री भगवान दोनो के कैंकर्य की प्रार्थना की । उन्होंने कहा

भगवन् आप तो जंगलों में श्री जानकी जी के साथ पर्वत की चोटियों पर विहार करेंगे और मैं आपकी जागते-सोते हर समय हर प्रकार की सेवा करूंगा।

"भवांस्तु सह वैदेह्या गिरिसानुषु रंस्यते।
अहं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः स्वपतश्चते॥"

इसी लिए श्री लक्ष्मण जी की सेवा स्तुत्य रही। कहने का आशय है कि जिस प्रकार श्री लक्ष्मी जी के बिना शरणागति सफल नहीं हो सकती है, उसी प्रकार श्री लक्ष्मी जी के बिना हम भगवान की सेवा भी नहीं कर सकते हैं। क्योंकि उनके बिना अवाप्त समस्त काम स्वतन्त्र भगवान हम जीवों से सेवा ग्रहण करें, यह कभी सम्भव ही नहीं है। अतएव—

१७०—कैंकर्यस्य सिद्धी रस्यता च साहित्य एव।

अनु०—श्री लक्ष्मी जी के साथ रहने पर ही हमें कैंकर्य की प्राप्ति हो सकती है, तथा वह रसावह हो सकती है।

भा० टी०—श्री लक्ष्मी जी भगवान के स्वातन्त्र्य को दबा कर उनकी कृपा को प्रोत्साहित करती हैं। जिस तरह माता पिता दोनों की सेवा करने वाले बालक की सेवा आनन्ददायक होती है, उसी प्रकार श्री लक्ष्मी जी एवं भगवान दोनो की सेवा करने वाले की ही सेवा आनन्द प्रद होती है।

१७१,७२—नारायणाय सर्व शेषिणे।

नारायणाय पद का अर्थ है सबों के शेषी के लिए।

भा० दी०—इन दो सूत्रों के द्वारा नारायणाय पद का अर्थ बतलाया जारहा है। यह पहले कहा जा चुका है कि भगवान उभय नाथ हैं। किन्तु नाथत्व कभी कर्मोपाधिक अथवा द्रव्योपाधिक हो सकता है। किन्तु नाथत्व की जो पराकाष्ठा होती है उसे ही शेषित्व कहते हैं। इसमें किसी प्रकार का औपाधिक सम्बन्ध नहीं होता। इस तरह यह बतलाया गया कि भगवान सम्पूर्ण जगत् के नैसर्गिक स्वामी हैं।

१७३—अत्र दिव्यविग्रहो गुणाश्च प्रोच्यन्ते।

अनु०—इस नारायण पद के द्वारा भगवान के दिव्य मंगल विग्रह और उनके कल्याण गुण बतलाये जाते हैं।

भा० दी०—सेव्यमान का शरीर वाला होना तथा गुणी होना अनिवार्य है। अतएव नारायण पद भगवान के दिव्य मंगल विग्रह को बतलाता है तथा उनके कल्याण गुणों को बतलाता है। क्योंकि कैंकर्य करने के समय भगवान के श्रीविग्रह एवं कल्याण गुण ही अनुभव के विषय बनते हैं।

सूत्र में सामान्यतः गुण शब्द का प्रयोग किया गया है, अतएव भगवान के ज्ञान शक्ति आदि गुणों का वात्सल्य आदि गुणों का तथा सौन्दर्यादि गुणों का भी सामान्यतः वाचक हो सकता है। अतएव श्री वरवर मुनि स्वामी जी कहते है कि यहां द्वय मन्त्र के पूर्वार्द्ध में नारायण पद से कहे गये आश्रयणोपयोगी वात्सल्य, स्वामित्व, सौशील्य, सौलभ्य ज्ञान एवं शक्ति

इन छह गुणों का ही प्राप्य रूप से अनुभव करना चाहिए ।

जिस तरह भगवान के उपाय एवं उपेय दो आकार बत-लाये गये हैं उसी प्रकार भगवाश्रित गुणों को भी उपाय एवं उपेय रूप से मानना चाहिए ।

१७४—शेषित्वे तात्पर्यम् ।

अनु०—नारायणाय पद का उनके शेषित्व के ही प्रति-पादन में तात्पर्य है ।

भा० दी०—श्रीमन्त्र के प्रकरण में (५२-५७) सूत्र की व्याख्या में सेवा के दो प्रकार बतलाये गये है, स्वाभाविक एवं आगन्तुक सेवा शास्त्र निषिद्ध है क्योंकि उसका दुःख में ही पर्य-वसान होता है । स्वाभाविक सेवा भगवान की सेवा है । उसका त्याग कभी भी नहीं करना चाहिए । इसीलिए यद्यपि नारायण पद सामान्यतः भगवान के श्रीविग्रह एवं कल्याण गुणों को भी बतलाता है फिर भी इसके चतुर्थी विभक्ति का तात्पर्य भगवान के सर्व शेषित्व के प्रतिपादन में है ।

१७५—प्राप्त विषये हि कैंकर्यं रसावहं भवति ।

अनु०—स्वरूपानुरूप स्वामी के विषय में की गयी सेवा ही आनन्द प्रद होती है ।

भा० दी०—यदि कोई यह कहे कि सेवा तो सदा दुःखद ही होती है, तो ऐसी बात नहीं है । क्योंकि शास्त्र जिस सेवा का विधान करता है वह सेवा दुःखप्रद न होकर स्वरूपानुरूप

होने के कारण आनन्दप्रद होती है। शास्त्र भगवान के सेवा का विधान करता है, अतएव भगवान की सेवा आनन्द प्रद होती है।

१७६-चतुर्थीय कैंकर्यं प्रकाशयति।

अनु०—यह चतुर्थी बिभक्ति कैंकर्य को प्रकाशित करती है।

भा० दी०--नारायणाय पद में प्रयुक्ति चतुर्थी विभक्ति का अर्थ कैंकर्य की प्रार्थना है। श्रीमन्त्र में भी नारायणाय पद में प्रयुक्त चतुर्थी विभक्ति का अर्थ यही बतलाया है।

१७७-कैंकर्यञ्च नित्यम्।

अनु०—कैंकर्य (सेवा) तो नित्य है।

भा० दी०—जीव का स्वरूप भगवान की शेषता है। अतएव उसका भगवान की नित्य सेवा करना स्वरूपतः प्राप्त है। बिना सेवा के उसका शेषत्व रूप स्वरूप ही नष्ट हो जायेगा।

१७८—नित्यमेव च प्रार्थ्यैव प्राप्तव्यम्।

अनु०—अतएव उसे नित्य ही प्रार्थना करके प्राप्त करना चाहिये।

भा० दी०--अतएव अपने स्वरूप की रक्षा के लिए इसकी प्राप्ति के लिए भगवान की नित्य ही प्रार्थना करनी चाहिये। क्योंकि अत्यन्त गारिष्ठ वस्तु भगवान की सेवा भी बिना माँगे नहीं मिलती है। भगवान यामुनाचार्य भी कैंकर्य की याचना

करते हैं—प्रभो मैं कब आपकी नित्य और ऐकान्तिक सेवक बनकर अपनी सेवा से आपको प्रसन्न करके अपने जीवन को सफल बना पाऊंगा ?

'कदा हमैकान्तिक नित्य किंकरः;
प्रहर्ष यिष्यामि सनाथ जीवितः ।'

यही नही–'नित्य किंकरो भवानि' सूक्त में भी भगवान से प्रार्थना की गयी है कि प्रभो ! मै आपका नित्य सेवक बन जाऊं ।

१७९ शेषिणोतिशयाधानं, शेषभूतस्य स्वरूप लाभः, प्राप्यञ्च ।

अनु०—स्वाभाविक स्वामी परमात्मा को प्रसन्न करना हो शेष भूत जोव के स्वरूप का लाभ और उसका प्राप्य है ।

भा० दी०—परमात्मा को अपनी सेवा से प्रसन्न करना ही जीव का शेषत्व है । चूंकि सेवा से भगवान का मुखोल्लास होता है अतएव वही जीवों के लिए प्राप्य पुरुषार्थ है । इसलिए उसकी नित्य ही प्रार्थना करनी चाहिये ।

१८०,८१ नमः कैंकर्य विरोधि निवर्त्यते ।

अनु०—(द्वय मन्त्र के अन्तिम) 'नमः' पद के द्वारा कैंकर्य के विरोधी की निवृत्ति बतलायी गयी है ।

भा० दी०—श्रीमन्त्र में भी दूसरा पद 'नमः' है अतएव उसका अर्थ करते हुए बतलाया गया है कि नमः पद अहंकार एवं ममकार की भावना को मिटाने वाला है अतएव वह स्वरूप

विरोधी, उपाय विरोधी एवं पुरुषार्थ विरोधी इन तीनों विरोधियों की निबृत्ति करता है, किन्तु यहां वैसा अर्थ न करके यह बतलाया गया है कि यह कैंकर्य के विरोधी का ही निवर्तक क्योंकि इससे पहले कैंकर्य की ही प्रार्थना की गयी है।

१८२ स्वार्थ बुद्धयानुष्ठानमेव विरोधी ।

अनु०—अपने सुख के लिए भगवान की सेवा करना ही, सेवा का विरोधी है।

भा० दी०—यह सोचकर कि भगवान की सेवा करना ही मेरा भोग्य है, अतएव उससे मुझे आनन्द की प्राप्ति होगी, इस प्रकार की बुद्धि से भगवान की सेवा करना ही, सेवा का विरोधी है। भगवान की सेवा सदा भगवान के मुखोल्लास के लिए करना चाहिए।

१८३ अत्राविद्यादयोऽपि निवर्तेरन् ।

अनु०—इस नमः पद के द्वारा अविद्या आदि की भी निबृत्ति हो जाती है।

भा० दी०—नमः पद के द्वारा अहंकार एवं ममकार की निबृत्ति तो होती ही है, साथ ही साथ अविद्या आदि (अविद्या के कार्य भूत कर्म तथा उसके फलस्वरूप संसार के सम्बन्ध) की निबृत्ति हो जाती है।

अविद्या का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि—अविद्या (अज्ञान) रूपी वृक्ष की उत्पत्ति के बीज दो हैं, अनात्मा

(देह, इन्द्रिय, प्राण, मन एवं ज्ञान आदि) को आत्मा मानना, तथा अपने से भिन्न वस्तुओं में अपने वस्तु की बुद्धि करना, इसी बुद्धि के कारण जीव दूसरे की वस्तुओं को ले लेना चाहता है।

१८४—'उनक्के नामाल चेयुबोम्' इत्युक्त प्रकारेण भवितव्यम् ।

अनु०—श्री गोदा देवी प्रणीत तिरुप्पावै प्रबन्ध को २९ वीं गाथा में कहे गये रूप से ही दृढ निश्चय करना चाहिये।

भा० दी०—श्री गोदा देवी के श्री व्रत प्रबन्ध की २९वीं गाथा में गोपियों ने भगवान से प्रार्थना किया है कि भगवन् हम आपकी ही दासता करते हैं। अर्थात् हम आपकी ही प्रसन्नता के लिए आपका कैंकर्य करते हैं। अर्थात् स्वामी की ही प्रसन्नता के लिए कैंकर्य करना चाहिये अपने लिए नहीं। इस तरह भगवान की सेवा एकमात्र भगवान के मुखोल्लास के लिए करना चाहिए।

१८५—सौन्दर्यमन्तरायः पूर्वोक्तं कैंकर्यमपि तथा।

अनु०—भगवन्मुखोल्लासार्थ किये जाने वाले कैंकर्य में भगवान का सौन्दर्य विघ्न डालता है तथा पूर्वोक्त पभिमत विषय रूप कैंकर्य भी विघ्न रूप ही है।

भा० दी०—भगवान के स्वरूप का वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकि कहते हैं कि भगवान रामका मुखडा चन्द्रमा के चांदनीके समान महाराज दशरथ सहित सभी दर्शकों के मनः प्रहलादन

का कार्य कर रहा था। देखने में अत्यन्त मनोहर वे अपने सौन्दर्यातिशय्य तथा औदार्यपूर्ण गुणों के द्वारा स्वेतर समस्त लोगों के नेत्र तथा चित्तों को आकर्षित कर रहे थे। (आते हुए भगवान को देखकर स्वयं महाराज दशरथ ही तृप्त न हो सके।)

'चन्द्र कान्ताननं राममतीव प्रिय दर्शनम्।
रूपौदार्य गुणैः पुंसां दृष्टि चित्ताय हारकम्॥'

इसलिए सेवा के समय यदि उनके सौन्दर्य सुधा सिन्धु के प्रेक्षण की ओर आंखे चली गयीं तो फिर कैंकर्य बनना मुश्किल हो जायेगा। यही नही चतुर्थी विभक्ति के द्वारा जो भगवान का कैंकर्य बतलाया गया है कि भगवान का सेवा नित्य ऐकान्तिक कैंकर्य हो जीव का अभिमत विषय है, वह भी भगवन् मुखोल्लास हेतु की जाने वाली भगवान की सेवा की बाधिका है।

१८६—कैंकर्य प्रार्थना वदेतत् पदोक्त प्रार्थनाऽपि सार्वत्रिकी सार्वदिकी च भवति।

अनु०—कैंकर्य की प्रार्थना की भांति इस नमः पदः से कही गयी प्रार्थना भी सार्वदेशिक और सार्वकालिक है।

भा० दी०—नारायणाय पद की चतुर्थी विभक्ति का विवरण देते हुए बतलाया गया है कि जीव को अपने शेषत्व के अनुकूल नित्य एव ऐकान्तिक कैंकर्य की प्रार्थना भगवान से करते रहना चाहिए। किन्तु उस कैंकर्य को स्वभोग बुद्धया नहीं करना चाहिये। अपने भोग्य की बुद्धि से कैंकर्य करना ही कलंक

है । अतएव जैसा कि गोपियों ने अपने भोग के लिए नहीं अपितु भगवान की प्रसन्नता मात्र के लिए ही कैंकर्य किया। अतएव उस कैंकर्य की प्रार्थना के ही समान भगवन् मुखोल्लास हेतु किये गये कैंकर्य के विरोधी की निबृत्ति के लिए भी सार्व-देशिक और सार्वकालिक प्रार्थना करते रहना चाहिए यह नमः पद बतलाता है ।

१८७—'मरून्दे नङ्गल पोह महिल्ल च्चिक्कु' इति ह्युच्यते ।

अनु०—श्री शठकोप सूरि ने सहस्र गीति के ९३४ वीं गाथा में गाया है कि हे मेरे भोग्य जन्य आनन्द के औषध !

भा० दी०—इस गाथा में श्री सूरि ने वतलाया है कि भगवान के सन्निकट में सदा रहने वाले नित्य मुक्त जीव भगवान को यों सम्बोधित करते रहते हैं कि हे भगवन् ! आपकी सेवा के विषय में यदि मेरी स्वभोग्यत्व की बुद्धि हो गयी तो फिर वह मेरी सेवा निःस्वार्थ नहीं हो पायेगी । ऐसी स्थिति में वह मेरी सेवा कलंकित हो जायेगी । उस कलक को तो आप ही दूर कर सकते हैं । अतएव हमारी स्वभोग्यत्व बुद्धि को हटाने की एकमात्र औषधि आप ही हैं ।

इस प्रकार इस द्वय मन्त्र के द्वारा दस अर्थों का प्रतिपादन किया जाता है—

१—श्री लक्ष्मी जी द्वारा जीवों का पुरुषकार (भगवान के सन्निकट में सिफारिश ।)

२—श्री लक्ष्मी जी तथा श्री भगवान का नित्य योग है। वे नित्य सहचर एवं नित्य दम्पति हैं ।

३—भगवान में श्री लक्ष्मी जी के पुरुषकार के कारण आश्रयणोपयोगी वात्सल्य, स्वामित्व, शौशील्य, सौलभ्य, ज्ञान एवं शक्ति ये छह गुण सदा परिपूर्ण रहते हैं।

४—जीवों के आश्रयणोपयोगी रक्षकत्व एवं निरतशय भोग्यत्व गुण सम्पन्न भगवान का दिव्य मंगल विग्रह।

५—वात्सल्यादि गुण एवं दिव्य मंगल विग्रह विशिष्ट ही भगवान जीवों के एकमात्र अपनी प्राप्ति के उपाय हैं।

६—भगवान को ही एकमात्र उनकी प्राप्ति का उपाय मानना चाहिए।

७—श्री लक्ष्मी जी से विशिष्ट श्री भगवान ही हमारे एकमात्र सेव्य हैं।

८—भगवान ही सबों के एकमात्र स्वामी हैं।

९—सर्वदा भगवान से उनके मुखोल्लास के लिए नित्य तथा एकान्तिक कैंकर्य के लिए प्रार्थना करते रहना ही जीव के शेषत्व रूपी स्वरूप के अनुरूप है।

१०—हमारी भगवान की सेवा में स्वभोग्यत्व बुद्धि न बन जाय। हम कहें भगवान के सौन्दर्य सुधापान मग्न होकर उनकी सेवा भूल न जांय, एतदर्थ उनके मुखोल्लासार्थ की जाने वाली सेवाके विरोधियोंकी निवृत्ति हेतु सदा भगवान से प्रार्थना।

इस तरह द्वय मन्त्र प्रकरण समाप्त हुआ।

अथ चरमश्लोक प्रकरणम्

१८८—अधस्तात् केषुचिदुपायविशेषूपदिष्टेषु। ते दुश्शका इति, स्वरूपविरुद्धा इति च मत्वा शोकाविष्टमर्जुनं प्रति तच्छोक निवृत्त्यर्थम्—'नास्तीतः परं किमपि' इतिवक्तुं योग्यस्य चरमोपायस्योपदे शाच्चरम श्लोक इत्यस्यनाम भवति।

अनु०—पहले के अध्याय में बतलाये गये अनेक उपायों को गुनकर भी उनका अनुष्ठान अत्यन्त कठिन तथा अपने स्वरूप के विरुद्ध समझ कर शोक सन्तप्त अर्जुन के शोक को दूर करने के लिए—'इससे बढ़कर कोई भी दूसरा उपाय नहीं है' ऐसा कहे जाने योग्य अन्तिम उपाय का इसमें उपदेश दिये जाने के कारण इसका नाम चरम श्लोक है।

भा० दी०—रहस्यत्रय में चरम श्लोक अन्तिम रहस्य माना जाता है। इसका उपदेश स्वयं भगवान ने अर्जुन को दिया है। इसमें शरणागति का माहात्म्य अत्यधिक बतलाया गया। इसी के अर्थ को जानने के लिए श्रीरामानुज स्वामी जी श्री गोष्ठीपूर्ण स्वामी जी की सन्निधि में अट्ठारह बार गये थे। और अत्यन्त कड़ी परीक्षा के पश्चात इस रहस्य को पा सके थे। किन्तु कृपापात्र प्रसन्नाचार्य श्रीरामानुज स्वामी जी ने अपने

शिष्यों को उसका उपदेश देकर उन्हें भी वैसा करने का आदेश दिया।

प्रस्तुत सूत्र में यह बतलाया जा रहा है कि इस श्लोक को चरम श्लोक क्यों कहा जाता है। श्री लोकाचार्य स्वामी जी बतलाते हैं कि श्री भगवान ने गीता में कर्म योग, ज्ञान योग, भक्ति योग का उपदेश अर्जुन को दिया है। किन्तु उपदेशों को सुनकर अर्जुन को सन्तोष नहीं हुआ। उनका शोक बढ़ता ही जारहा था। क्योंकि कर्म योगों के अनुष्ठान में शरीर को दुख देना पडता है, ज्ञान योग के अनुष्ठान में अनादिकाल से विषयासक्त इन्द्रियों पर विजय पाना अत्यन्त कठिन है। भक्ति योग के अनुष्ठान में भी अत्यन्त कठिनाई इसलिए है कि उनका आजीवन सावधानी पूर्वक अनुष्ठान करना पड़ता है, यह—"आप्रामाणात् तत्रापि हि दृष्टम्" इस सूत्र के द्वारा ज्ञात होता है। अतएव पहले के अध्यायों में बतलाये गये आत्मोद्धार के साधनों के अनुष्ठान में अत्यन्न कठिन है। यही सोचकर अर्जुन का शोक बढ़ता ही जा रहा था। यही नहीं जब जीव परमात्म परतन्त्र हैं यह गीता में ही बतलाया गया है तो वह स्वतन्त्रतया इन उपायों का अनुष्ठान कैसे कर सकता है? यह भी सोचकर अर्जुन अत्यन्त खिन्न हो रहे थे। अर्जुन के शोक को दूर करने के लिए ही भगवान ने सर्व धर्मान् परित्यज्य आदि श्लोकों को उपदेश देकर कहा कि इससे बढ़कर आत्मोद्धार का कोई दूसरा साधन नहीं है। इसी उपदेश को सुनकर अर्जुन ने भी कहा—

भगवन् हमारा मोह नष्ट हो गया। चूंकि यह अन्तिम उपाय है। गीता में उपाय रूप से उपदिष्ट अन्तिम श्लोक भी है, अतएव इसे चरम श्लोक कहते हैं।

पञ्चम वेद महाभारत का सार है गीता और गीता का भी सार है चरम श्लोक। अतएव इसका ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिए श्री लोकाचार्य स्वामी जी इस प्रकरण में इसका रहस्योद्‌घाटन पूर्वक अर्थ वर्णन करते हैं।

सर्वप्रथम इस श्लोक के वाक्यार्थ को बतलाया जा रहा है।

१८६—अत्र पूर्वार्द्धेनाधिकारिकृत्यमुपदिश्यते; उत्तरार्द्धेनोपाय कृत्यमुच्यते।

अनु०—चरम श्लोक में पूर्वार्द्ध के द्वारा अधिकारी के कर्तव्य का उपदेश दिया गया है और उत्तरार्द्ध के द्वारा उपाय की कर्तव्यता का उपदेश देते हैं।

भा० दी०—किसी भी श्लोक के दो भाग होते हैं पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों स्वतन्त्र वाक्य होते हैं। पूर्वार्द्ध वाक्य में भगवान अर्जुन के व्याज से मुमुक्षु जनों को यह उपदेश देते हैं कि तुम अमुक उपाय करो। यह उपाय का स्वीकार ही अधिकारी का कर्तव्य है। अधिकारी उसको कहते हैं जिसको लक्ष्य करके कोई उपदेश दिया जाय। जिन उपायों को अपनाकर अधिकारी अपने लक्ष्य को प्राप्त करता

है वही उसका कर्तव्य है । उत्तरार्द्ध वाक्य के द्वारा अधिकार की प्राप्ति के लिए अधिकारी के द्वारा कर्तव्य अंश को बतलाया जा रहा है ।

१९०—अधिकारिणः कृत्यं नाम—उपाय परिग्रहः ।

अनु०—भगवान के द्वारा उपदिष्ट उपाय को अपनाना अधिकारी का कर्तव्य है ।

१९१—तं साङ्गं विदधाति ।

अनु०—भगवान उस उपाय का अङ्गों के साथ विधान करते हैं ।

भा० दी०—भगवत् प्रोक्त उपाय का अङ्ग है कि उपायान्तर का परित्याग कर दिया जाय । जिस तरह यह नियम है कि 'पैरों को धोकर आचमन करना चाहिये', 'स्नान करने के पश्चात् विधि पूर्वक भगवान की पूजा करे ।' बिना स्नान किये नहीं । उसी तरह इस पूर्वार्द्ध वाक्य में भी उपायन्तरों का परित्याग कर देने पर ही सिद्धोपाय भगवान को एकमात्र शरण रूप से मानना चाहिए । उपायान्तर ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग रूप साधनों में उपायत्व बुद्धि का परित्याग किये विना नहीं ।

१९२—रागप्राप्त उपाय एव वैधो भवति चेत् शीघ्र परिग्रहयोग्यो भवति खलु ।

अनु०—यदि स्वतः अपेक्षित वस्तु का विधान भी हो जाय तो भी वह अत्यन्त शीघ्र अपनाया जायेगा ही ।

भा० टी०—यहां पर यह प्रश्न उठता है कि इस भगवत् शरणागति जैसे सरल उपाय में तो सबकी सामान्यतः प्रवृत्ति होती है, उसका विधान करने की क्या आवश्यकता है ? तो इसका उत्तर देते हुए श्री लोकाचार्य स्वामी जी कहते हैं कि जिस तरह से कोई रोगी दूध खाना चाहे और उसकी औषधी भी दूध ही बतलायी जाय तो वह जिस तरह से शीघ्रता पूर्वक उस औषधि को शीघ्र लेने में प्रवृत्त होता है, उसी तरह इस भगवत शरणागति रूप उपाय के मुमुक्षु जीवों के अत्यन्त अनुकूल होने के कारण तथा उसका विधान स्वयं भगवान द्वारा कर दिये जाने के कारण उसमें मुमुक्षु जीवों की शीघ्रतम प्रवृत्ति होगी। इसीलिए भगवान ने चरम श्लोक में भगवत् शरणागति रूप उपाय का उपदेश किया है।

१६३—अत्र पूर्वार्द्धे षट् पदम्।

अनु०—चरम श्लोक के पूर्वार्द्ध में छह पद हैं।

१६४,६५—सर्वधर्मान्=अखिलान् धर्मान्।

अनु०—पूर्वार्द्ध का पहला पद सर्वधर्मान् है जो सभी धर्मों का वाचक है।

१६६—यत्फलसाधनं स धर्मः।

अनु०—जो किसी फल का उपाय है उसे धर्म कहते हैं।

भा० टी०—सर्वधर्मान् पद के तीन अंश हैं– (१) विशेषण रूप से आया हुआ सर्व शब्द। (२) विशेष्य भूत धर्म शब्द और

(३) बहुवचनान्त विभक्ति । इनमें से सर्वप्रथम धर्म शब्द को लक्षित करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो किसी फल का साधन हो उसे धर्म का साधन कहते हैं । किन्तु उस साधन को शास्त्रोपदिष्ट होना चाहिये । जीव इस लोक में धन सम्पत्ति ऐश्वर्य पुत्रादि को प्राप्त करना चाहता है, अतएव ये लौकिक धन हैं । इनकी प्राप्ति के अनेक साधन शास्त्रों में उपदिष्ट हैं । वे साधन धर्म शब्द से कहे जाते हैं । स्वर्गादि भोगोंके भी प्राप्ति के शास्त्रोपदिष्ट साधन धर्म कहलाते है ।

१९७—अत्र प्रयुक्तो धर्मशब्दो न दृष्टफलसाधनानि वक्ति अपि तु मोक्षफलसाधनानि वक्ति ।

अनु०—इस सूत्र में प्रयुक्त धर्म शब्द लौकिक फलों के साधन को न बतलाकर मोक्षरूपी फलके साधन को बतलाता है।

भा० दी०—प्रस्तुत गीता शास्त्र का उपदेश आत्मोद्धार के लिए किया गया है अतएव यहां पर प्रयुक्त धर्म शब्द लौकिक फल के साधन को नहीं बतलाकर मोक्ष के साधन को बतला रहा है ।

अब प्रश्न उठता है कि यहां पर बहुवचनान्त प्रयोग क्यों किया गया है ? तो इसका उत्तर देते हैं—

१९८—तेषां च श्रुतिस्मृति विहितानां बहुत्वाद् बहुवचन प्रयोगः क्रियते ।

अनु०—वे मोक्ष के साधन वेदों और स्मृतियों में अनेक

बतलाये गये हैं. उन्हीं को सूचित करने के लिए बहुवचनान्त सर्वधर्मान् शब्द का प्रयोग किया गया है ।

१६६—ज्ञानि च-- कर्मज्ञान भक्तियोगाः, अवतार रहस्य ज्ञान, पुरुषोत्तमविद्या, देशवास, श्रीमन्नाम संकीर्तन, दीपारोपण, माल्यसमर्पणादीन्युपाय बुद्धया क्रियमाणानि च ।

अनु०--वे हैं-कर्म; ज्ञान और भक्तियोग, अवतार रहस्य ज्ञान, पुरुषोत्तम विद्या, दिव्यदेशों में निवास, भगवान का नाम संकीर्तन, [भगवान के समक्ष] दीप जलाना, माला चढ़ाना आदि मोक्ष के साधन रूप से किये जाने वाले अनेक कार्य ।

भा० दी०—गीता में ही भगवान ने कर्मयोग को आत्मोद्धार का श्रेष्ठ साधन बतलाते हुए कहा है— 'चूंकि ज्ञानयोग के अधिकारी कर्मयोग को ही आत्मोद्धार का श्रेष्ठ साधन मानते हैं अतएव ज्ञानियोंमें अग्रेसर जनक आदि राजर्षि भी कर्मयोगके ही द्वारा मोक्षको प्राप्त किये ।'–'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता: जनकादय: ।' [गी०३।२०] अतएव तुम भी फलाभिसंधि रहित सत्कर्मोंका अनुष्ठान करो । 'तस्मादसक्त: सततं कार्यं कर्म समाचर । [गी० ३।१९] इन श्लोकों में भगवान ने कर्मयोग को आत्मोद्धार का स्वतन्त्र साधन बतलाया है ।

ज्ञानयोग को आत्मोद्धार का साधन बतलाते हुए भगवान ने कहा--मोक्षार्थ किये जाने वाले कर्मों में ज्ञानांश की ही प्रधानता होती है अतएव सभी कर्मों तथा तदतिरिक्त सभी प्राप्य वस्तुओं का पर्यवसान ज्ञान में ही होता है । 'सर्व

कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परि समाप्यते' [गी० ४।३३]

चूंकि आत्मज्ञान के समान कोई दूसरा शुद्धि का साधन नहीं है अतएव आत्मज्ञान सभी पापों को नष्ट कर देता है--
'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्र मिह विद्यते ।' [गी० ४।३७]

भक्तियोग का माहात्म्य बतलाते हुए भगवान कहते हैं अर्जुन तुमने मुझे जिस तरह जाना, देखा और मुझमें प्रवेश किया है उस तरह अन्यान्य भक्ति के द्वारा ही कोई मुझे शास्त्रों का अध्ययन करके तत्त्वतः जान सकता है, मेरा साक्षात्कार कर सकता है, तथा मुझमें प्रवेश कर सकता है ।

'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोर्जुन ज्ञातुं द्रष्टुञ्चतत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ।' (गी० ११।५७)

इसलिए तुम मेरा भक्त बनकर अखिल कल्याण गुणाकर, निखिल हेय प्रत्यनीक, उभय बिभूति नामक सम्पूर्ण ऐश्वर्य सम्पन्न मुझमें ही अपना मन लगाओ । अर्थात मुझको ही अपना प्रियतम समझो, मेरी ही अर्चना करों, मुझको ही सर्वदा नमस्कार करो, मेरे आश्रित बनकर तुम मुझमें ही अपना मन लगाकर अन्त में मुझे ही प्राप्त करोगे । अपने अवतार रहस्य का ज्ञान बतलाते हुए भगवान कहते हैं--जो मेरे भक्त इस प्रकार से मेरे दिव्य जन्म एवं कर्मों के रहस्यों को तत्त्वतः जानते हैं वे इस शरीर का त्याग कर देने के पश्चात् पुनः जन्म नहीं ग्रहण करते अपितु मुझको ही प्राप्त कर लेते हैं ।

'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नेतिमामेति सोऽर्जुन ।'

(गी० ४।९) इस श्लोक में भगवान ने अवतार रहस्य को विरोधो निरसन पूर्वक भगवान् की प्राप्ति का साधन बतलाया है ।

गीता के पन्द्रहवें अध्याय में सभी शास्त्रों का सार बतलाते हुए पुरुषोत्तम विद्या को अभिमत फल को देकर कृत कृत्य बना देने वाली बतलाया है ।

'एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान स्यात् कृतकृत्यश्च भारत' अर्थात् इस पुरुषोत्तम विद्या को जानकर बुद्धिमान जीव कृतकृत्य हो जाता है ।

गरुड पुराण में श्रीरंगम क्षेत्र का माहात्म्य बतलाते हुए उसे सभी काम्य पदार्थों को देने वाला बतलाया गया है । 'देशोऽयं सर्व कामधुक्' इस तरह से दिव्य देशों में निवास भी सभी फलों का प्रदाता है । महाभारत के अनुशासन पर्व में भगन्नाम संकीर्तन को भगवत् प्राप्ति का साधन तथा सर्व पाप प्रणाशक बतलाया गया है—

'सर्वपाप विशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ।'

श्री नारसिंह पुराण में बतलाया गया है कि—जो व्यक्ति भक्ति भावना से परिपूर्ण होकर घी अथवा तेल का दीपक भगवान के मन्दिर में जलाता है चमकते हुए हजारों सूर्य के समान वह सभी पापों से रहित होकर देदिप्यमान बिमान के द्वारा

भगवान विष्णु के लोक में जाकर आनन्दानुभव करता है ।

'घृतेन वाथ तैलेन दीपं यो ज्वालयेन्नरः ।
विष्णवे विधिवद्भक्त्या तस्य पुण्यफलं शृणु ।
विहाय सकलान् पापान् सहस्रादित्य संनिभः ।
ज्योतिष्मता विमानेन विष्णुलोके महीयते ।'

इन सभी साधनों का संग्रह करने के लिए बहुवचनान्त प्रयोग किया गया है ।

२००—सर्व शब्देन तत् तत् साधनविशेषाणा मनुष्ठानेन क्रियमाणे तद् योग्यतापादकानि नित्य कर्माण्युच्यन्ते ।

अनु०—सर्व शब्द के द्वारा उन साधन विशेषों के अनुष्ठान करने के लिए उनकी योग्यता के आपादक (उन कर्मों के पूर्वाङ्ग भूत) नित्य कर्म कहे गये हैं ।

भा० दी०—इससे पहले के सूत्र में बहुवचनान्त का तात्पर्य बतलाते हुए मोक्ष के साधन भूत नव साधनों के नाम गिनाये गये हैं । किन्तु उन साधनों के पूर्वाङ्ग नित्य कर्म हैं । नित्य कर्म उन्हें कहा जाता है जिनके करने का कोई पुण्य नहीं होता किन्तु नहीं करने से पाप अवश्य होता है । उन नित्य कर्मों में सन्ध्या वादन आदि कर्म हैं । कहा भी गया है सन्ध्या कर्म नहीं करने वाला किसी भी शास्त्रीय कर्म करने का अधिकारी होता है । वह सदा अपवित्र रहता है ।

सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वं कर्मसु' इन्हीं नित्य कर्मों को बतलाने के लिए सर्व शब्द का प्रयोग किया गया है।

२०१—श्रुति-स्मृतिचोदितान् नित्यनैमित्तिकादिरूपान्, कर्मयोगाद्युपायानिति यावत्।

अनु०—अर्थात् वेदों एवं धर्मशास्त्रों द्वारा विहित नित्य नैमित्तिक आदि रूप से किये जाने वाले कर्मयोग आदि उपायों को ही सर्व शब्द बतलाता है।

२०२—एतेषां धर्मतया कथनं भ्रान्तस्यार्जुनस्याभिप्रायेण।

अनु०—इन सबों को धर्म रूप से भगवान ने भ्रान्त अर्जुन के अभिप्राय से बतलाया है।

भा० दी०—उपर्युक्त सभी साधनों की धर्मरूपता भगवान ने इसलिए बतलाया कि अर्जुन इन्हीं साधनों को धर्म रूप से मान रहा था। वस्तुतः ये जीव के स्वरूप के विरुद्ध होने के कारण धर्म शब्द वाच्य नहीं है। यदि ये धर्म होते तो फिर भगवान् इन्हें छोड़ने के लिए क्यों कहते ? जीव तो परमात्मा का परतन्त्र है। अतएव स्वतन्त्रतया कर्मयोगादि के अनुष्ठान का जीव को अधिकार कहाँ है ?

यहाँ पर यह मौलिक रूप से प्रश्न उठता है कि भगवान् यहाँ तो अकर्मण्यता एवं नास्तिकता का उपदेश दे रहे हैं। क्या प्रपन्नजन अकर्मण्य, ज्ञानशून्य भक्त आदि विहीन ही होते हैं ? क्या वे नित्यादि कर्मों का त्याग कर देते हैं ? तो इसका उत्तर

है कि ऐसी बात नहीं है। और न तो आगे के पद में भगवान इन कर्मों के अनुष्ठान को ही परित्याग करने की बात करते हैं। वे तो यह बतलाते हैं कि उपर्युक्त साधनों में मोक्ष के उपायत्व बुद्धि का परित्याग कर देना चाहिए।

२०३—परित्यज्य—

भा० दी०—यह चरम श्लोक के पूर्वार्ध का दूसरा पद है। इसमें उपर्युक्त सभी साधनों में होने वाली मोक्षोपायत्व बुद्धि को छोड़ने के लिए भगवान कहते हैं। परित्यज्य पद में भी तीन अंश हैं। १—परि उपसर्ग, २—त्यज् धातु और ३—ल्यप् प्रत्यय। इनमें सर्वप्रथम त्यागार्थक त्यज् धातु के अर्थ को भगवान बतला रहे है।

१०४—त्यागो नाम— उक्तोपायानुसंधाय, शुक्तिकायां रजत बुद्धिमिव, विपरीतदिशायां गमनमिव च, अनुपायेष्पायत्व बुद्धिमकार्षमिति बुद्धि विशेषण सह क्रियमाणस्त्यागः।

अनु०—उपर्युक्त उपायों की परीक्षा करके यह सोचकर कि 'जैसे कोई सीपी को चाँदी मान लें अथवा दिग्भ्रम के कारण अपने लक्ष्य के विपरीत दिशा में चला जाय' इसी तरह मैने मोक्ष के साधनो से भिन्न में मोक्षोपायत्व बुद्धि बना ली थी, इस प्रकार के ज्ञान के साथ-साथ उपर्युक्त साधनों को छोड़ देने को ही यहाँ त्याग कहा गया है।

भा० दी०—यहां पर सामान्यतः उपर्युक्त साधनों का त्याग न बतलाकर यह बतलाया गया है कि पहले इन साधनों की पूर्ण परीक्षा कर लेनी चाहिये। और अन्त में जब यह बुद्धि हो जाय कि अरे ये तो वस्तुतः मोक्ष के साधन नहीं हैं। इनको तो मैंने उसी तरह से मोक्ष का साधन मान लिया था जिस तरह से कोई व्यक्ति चमकती हुई सीपी को चाँदी समझ कर उसे उठाले। अथवा जिस व्यक्ति को दिग्भ्रम हो गया हो और वह अपने लक्ष्य की विपरीत दिशा में जारहा हो, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिये। ऐसा सोचकर उनका त्याग करना चाहिए।

२०५—परीत्युपसर्गेण पातकादीनां त्यागवद् रुचिवासनाभ्यां सह लज्जया सह चापुनरावर्तिनं त्यागः कर्त्तव्य इत्युच्यते।

अनु०—परि उपसर्ग के द्वारा बतलाया जारहा है कि उपर्युक्त कर्मयोग आदि साधनों को पातक आदि के त्याग के समान रुचि; वासना और लज्जा के साथ त्याग देना चाहिये। जिससे पुनः उनमें प्रवृत्ति न हो सके।

भा० दी०—जिस तरह कोई आस्तिक व्यक्ति अचानक ही कोई पाप कर्म कर दे तो उसके लिए उसे पश्चाताप एवं लज्जा होती है और सर्वदा के लिए रुचि और वासना के साथ उसे त्याग देता है, उसी तरह मैंने इन कर्मयोग आदि को ही

मोक्षोपाय मानकर उनके अनुष्ठान में सारा जीवन गवां दिया इस प्रकार से पश्चाताप होने पर उपर्युक्त कर्मयोग आदि का रुचि एवं वासना के साथ त्याग कर देने को ही परि उत्सर्ग कहलाता है।

२०६—ल्यपा— 'स्नात्वा भुञ्जीते' त्यत्रेव उपायान्तराणि परि-
परित्यज्यै वाश्रयणां कर्तव्य मित्युच्यते।

अनु०—ल्यप् प्रत्यय के द्वारा बतलाया जाता है कि—जिस तरह स्नान करके भोजन करना चाहिए, यह नियम है, उसी तरह उपायान्तरों को छोड़कर ही भगवत् शरणागति करनी चाहिए।

भा० दी०—यह नियम है कि स्नान करके ही भोजन करनी चाहिए। विना स्नान किये भोजन नहीं करना चाहिए, उसी तरह इस शरणागति रूपी सिद्ध उपाय को स्वीकार करने से पूर्व शरणागति के पूर्वाङ्ग रूप से उपायान्तरों का सर्वथा त्याग होना आवश्यक है।

२०७—'चचाल चापञ्च मुमोच वीरः' इत्युक्त प्रकारेण न
केवलं तेऽनुपायभूताः— प्रतिबन्धका अपीत्युच्यते।

अनु०—वीर रावण रणाङ्गण से पलायित हो गया तथा धनुष को फेंक दिया इसी प्रकार से वे साधन केवल फल के साधन से भिन्न मात्र ही नहीं हैं अपितु फलोत्पत्ति के प्रति बाधक भी है।

भा० दी०—उपायान्तरों के परित्याग का उदाहरण देते हुए श्री लोकाचार्य स्वामी जी श्रीरामायण के एक प्रसंग को उद्धृत करते हैं। रावण जगत् प्रसिद्ध योद्धा था। लड़ाई के मैदान में जब इन्द्र ने उस पर बज्र प्रहार किया- उस समय रावण को थोड़ा सा भी क्षोभ नहीं हुआ। वह ज्यों के त्यों युद्ध करता रहा। किन्तु जब रावण को सर्व-प्रथम भगवान राम से युद्ध करने की बारी आयी- उसी समय भगवान राम ने उसकी सारी सेना को मार दिया। उसके रथ और घोड़ों को भी वाणों के प्रहार से नष्ट कर दिया। यहां तक कि उसके दशों धनुषों को भी काट डाला। रावण भगवान राम के वाणों के प्रहार से घबरा गया। वह लड़ाई करना छोड़कर भागने लगा, किन्तु भगवान ने इस तरह से उस पर वाणों का प्रहार प्रारम्भ किया कि उसको भागने का किसी तरफ मौका ही नहीं मिल रहा था। रावण सोच रहा था कि भगवान राम धर्म के जानकार है- यह श्री जानकी जी ने भी अशोक-वाटिका में कहा था—'विदितः स हि धर्मज्ञः' किन्तु यह कौन सा धर्म है कि जब मैं निहत्था और समर पराङ्मुख हूँ- उस समय भी भगवान मुझ पर बाण प्रहार कर रहे है ? एकाएक उसकी दृष्टि अपने हाथों पर गयी जिनमें वह टूटे धनुषों को पकड़ रखा था। वह समझ गया कि जब तक मैं इन धनुषों को पकड़े हूँ- तब तक निरस्त्र कैसे हो सकता हूँ ? उसने धनुष खण्ड को भी फेंक दिया और तब भागना शुरू किया। महर्षि वाल्मीकि के शब्दों में—

यो वज्रपाताशनिसन्निपातात्- न चुक्षुभे नापि चचाल राजा।

स रामवाणाभिहतो भृशार्तः- चचाल चापञ्च मुमोच वीरः ॥

रावण को इस स्थिति में देखकर भगवान ने वाणों का प्रहार बन्द कर दी और कहा—रावण ! यद्यपि तुम रात्रिञ्चर हो- कूट युद्ध करना जानते हो- लेकिन लगता है कि तुम लड़ते-लड़ते आज अत्यन्त थक गये हो । अतएव मैं आज तुम्हें अनुमति दे रहा हूँ तुम अपनी नगरी लंका में प्रवेश करो । रात्रि भर बिश्राम करो । पुनः कल रथ पर बैठकर धनुष धारण करके आना तब तुम मेरा पराक्रम देखना ।

गच्छानुजानामि रणार्दितस्त्वम्-
प्रविश्य रात्रिंचर राजलङ्काम् ।
आश्वाश्य-निर्याहि रथी च धन्वी-
तदा बलं द्रक्ष्यसि मे रथस्थः ॥

इस कथा के माध्यम से श्री लोकाचार्य स्वामी जी ने बतलाया है कि—जब तक रावण ने टूटे हुये युद्ध के साधनों का भी परित्याग नहीं किया तब तक भगवान उस पर कृपा नहीं किये । उसका धनुष परिग्रह भगवान की कृपा का स्वयं प्रतिबन्धक बना रहा । युद्ध के मैदान से वह भग भी नहीं पा रहा था- किन्तु जब उसने साधनों का परित्याग कर दिया तो भगवान ने उस पर कृपा की । उसी तरह उपायान्तर स्वयं तो भगवत् कृपा प्राप्ति के साधन नहीं ही है- स्वयं भगवत्कृपा के प्रतिबन्धक भी हैं । प्रतिबन्धक उसको कहते हैं जिसके चलते सभी करणों के रहने पर भी कार्य नहीं होता है । अतएव वही शरणागति के पूर्वाङ्ग रूप से साधनान्तर का परित्याग अनिवार्य माना जाता है ।

२०८-दशरथस्येवालाभहेतुः ।

अनु०—उपायान्तर का स्वीकार चक्रवर्ती दशरथ जी के ही समान- भगवत् कृपा की प्राप्ति न होने का कारण है ।

भा० दी०—श्री लोकाचार्य स्वामी जी यहाँ पर एक दूसरा भी उदाहरण देते है । श्री दशरथ जी ने सत्य पालन के लिए भगवान को जंगल भेज दिया । वस्तुतः धर्माभास ही सत्य पालन है । उस सत्य पालन का भी लक्ष्य भगवान् की कृपा की प्राप्ति ही है । श्री दशरथ जी ने साधन की रक्षा में साध्य भूत भगवान को ही खो दिया । अतएव सिद्ध धर्म भगवत् प्राप्ति के लिये धर्माभास का त्याग कर देना चाहिये ।

२०९-सर्वधर्मान् परित्यज्येत्युक्त्याऽधर्माचरणमभ्यनुज्ञातं भवतीति केचिदाहुः ।

अनु०—कुछ लोगों का कहना है कि भगवान् के सभी धर्मों का त्याग करके यह कहने से अधर्म के आचरण की अनुमति मिलती है ।

भा० दी०—यहाँ पर धर्म परित्याग का लोग वास्तविक अर्थ नहीं समझते हैं- उनका कहना है कि भगवान् सर्व धर्म परित्याग का विधान करते है । इसका तात्पर्य हुआ कि अधर्म का आचरण करना चाहिये ।

२१०-नैतदेवम्, अधर्मान् कुर्वित्यनुक्तत्वात् ।

अनु०—ऐसी बात नहीं है- क्योंकि भगवान् ने यह नहीं कहा है कि अधर्मों को करो ।

भा० दी०—उपर्युक्त आक्षेप का खण्डन करते हुए श्री लोकाचार्य स्वामी कहते हैं कि भगवान् ने इतनाही कहा है कि आत्मोद्धार के साधन रूप से बतलाये गये जितने कर्मयोगादि धर्म है- उनको त्याग दो- किन्तु भगवान् ने यह कही नहीं कहा है कि अधर्म करो।

२११-अर्थादुक्तं न भवति किमिति चेत् ।

अनु०—यदि यह कहा जाय कि यद्यपि यह बात कही नहीं गयी है- फिर भी उसका अर्थ यह नही होता है क्या ?

२१२-न भवति, धर्मशब्दस्याधर्मनिवृत्तिमात्र बोधकत्वात्।

अनु०—नही होता है- क्योंकि धर्म शब्द अधर्म की निवृत्ति मात्र का बोधक है।

भा० दी०—अर्थात् अर्थतः भी यह अर्थ निकलता है कि अधर्म करो। क्योंकि धर्म शब्द मुख्यतः प्रवृत्ति रूप धर्मों का ही वाचक होता है अधर्म निवृत्ति तो उक्त धर्म का अंग होने से गौणतया ही धर्म शब्द वाच्य हो सकता है। अतएव यहाँ पर परित्याज्य रूप से उपदिष्ट धर्म प्रवृत्ति धर्म मात्र ही हो सकते हैं।

२१३-बोधनेऽपि, तद्भिन्ना एवात्रोक्ता इत्यङ्गीकार्यम् ।

अनु०—अधर्म का बोध कराने पर भी यहाँ पर धर्म शब्द से अधर्म से भिन्न ही कहे गये हैं- यह स्वीकार करना चाहिये।

भा० दी०—अर्थात् यदि यह कहा जाय कि सर्व शब्द के साहचर्य से यहाँ पर प्रवृत्ति रूप एवं निवृत्ति रूप दोनों प्रकार के धर्म का बोध हो सकता है धर्म शब्द से। तो इसका उत्तर है कि तो फिर

यहाँ पर भगवान् का अभिप्राय है कि आत्मोद्धार के साधन रूप से शास्त्रों में बतलाये गये धर्म ही- धर्म शब्द वाच्य है।

२११-स्वात्मनः, ईश्वरस्य, फलस्य च पर्यालोचने, न खलु प्रसक्तिरधर्माचरणस्य।

अनु०—शरणागत- ईश्वर और फल का विचार करने पर विरुद्ध होने के कारण अधर्माचरण का कोई प्रसङ्ग नहीं आता है।

भा० दी०—अर्थात् अधर्माचरण का प्रसंग तो तब आता है जबकि शरणागत- ईश्वर एवं फल की दृष्टि से वह अनुकूल होता। किन्तु वह तो उनकी भी दृष्टियों से प्रतिकूल ही है- अतएव अधर्माचरण का कोई प्रसंग ही नहीं है। कहने का आशय है कि शरणागत को तो सदा भगवत् प्रीत्यर्थ ही कार्य करना चाहिये और अनिष्ट से बचना चाहिये। क्योंकि भगवान् शरणागत से स्वकैंकर्य व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहते है। चेतन भी फल रूप मे भगवत् कृपा को ही प्राप्त करना चाहता है। पापाचरण से वह भी नही मिल सकता है। अतएव पापाचरण का कोई प्रसंग नहीं है।

२१५-२१६-माम्-सर्वरक्षकम् तवविधेयभूतम्, त्वदाभिमुख्यं प्रतीक्ष्य त्वद्दोषान् भोगान भावयित्वा तवशरणभूतम्, जलस्योष्णतावत् संघटकेष्वेगाविघटकेष्वपि परित्यक्तुमशक्नुवानम् रक्षन्तं माम्।

अनु०—माम् पद का अर्थ है सबों के रक्षक, तुम्हारे सेवक,

तुम्हारी इच्छा की प्रतीक्षा करने वाले, तुम्हारे दोषों को अपना भोग्य मानकर तुम्हारी रक्षा करने वाले- जैसे शीतल जल में उष्णता आ जाय उसी तरह तुम्हारे पुरुषकार करने वाले भी यदि तुम्हें मुझसे अलग करना चाहें तो भी तुम्हे नही छोड़ सकने वाले मुझको ।

भा॰ दी॰—चरम श्लोक के पूर्वार्द्ध का तीसरा पद माम् है । इसी का अर्थ इन दो सूत्रों में बतलाया जा रहा है । इस शरणागति के प्रकरण में माम् पद से अभिहित भगवान् में शरण्यानुकूल अभिप्रेत सभी अर्थ बतलाये गये हैं ।

यदि शरणागत अर्जुन को यह शंका हो कि भगवान् हमारी रक्षा करते हैं कि नहीं ? तो इसका उत्तर है कि भगवान तो सबों के रक्षक हैं- तुम्हारी ही क्या बात ? अब प्रश्न यह है कि भगवान यद्यपि सबो के रक्षक हैं किन्तु कही अपने उत्कर्ष और हमारे अपकर्ष को देखकर रक्षण पराङ्मुख न हो जाय तो ऐसी बात नही है- क्योंकि त्रैलोक्य नायक होकर भी भगवान अर्जुन का सारथी बनकर उसका विधेय बन गये हैं और उसकी इच्छा की प्रतीक्षा किया करते हैं । अर्जुन ने ज्यों ही कहा भगवान मुझे इस बात का पता नही चलता है कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है ? अतएव आपही मेरा अनुशासन करें । मैं आपका शिष्य बन गया हूं । अर्जुन की इच्छा देखते ही भगवान ने सम्पूर्ण शास्त्रों के निचोड़ रूप गीता सुना डाला । अतएव सिद्ध होता है कि भगवान शरणागत की इच्छा मात्र की प्रतीक्षा किया करते हैं । भगवान की भक्तवत्सलता का वर्णन करते हुए श्रीलोकाचार्य स्वामी जी बतलाते हैं कि भगवान अत्यन्त भक्तवत्सल हैं । वे शरणागत के

दोषों को ही अपना भोग्य मान लेते हैं । माताएं जैसे अपने छोटे बच्चे की दोष पूर्ण तोतली बोली सुनकर अमन्दानन्द सन्दोह का अनुभव करती है- जैसे गो अपने बछड़े के शरीर में लगे मल को चाट कर साफ कर देती है- उसी तरह भगवान भी अपने भक्तों के दोषों को ही अपना भोग्य मान लेते है । अतएव अर्जुन में जो अनुचित देश काल मे स्नेह और करुणा का आवेश आ गया था- वह जो धर्म एवं अधर्म के भय से घबड़ा उठा था- उसे स्वयं मारे जाने का जो भय उत्पन्न हो गया था—उन दोष को भगवान भूलकर अत्यन्त स्नेह से उसे गीता सुना डाले ।

चरम श्लोक की यह एक विशेषता है कि इसमे पुरुषकार की कोई बात ही नहीं उठायी गयी है। इसका अभिप्राय बतलाते हुए श्री लोकाचार्य स्वामी जी कहते है कि श्री लक्ष्मीजी ही जीवों के दोषों को भुलवाकर भगवान् को प्रोत्साहित किया करती है कि वे जीवो को अपनी शरण मे लें । भगवान् का स्वभाव है कि वे श्री लक्ष्मी जी की हर बातों को बड़े प्रेम से स्वीकार करते है। अतएव जीवों के अपराधों की ओर देखे विना उन्हें अपने शरण में ले लिया करते है। किन्तु जिस तरह कभी-कभी शीतल जल भी अग्नि आदि का संयोग पाकर गर्म हो जाया करता है उसी तरह जीवों का पुरुषकार करने वाली श्री लक्ष्मीजी भी अपना स्वभाव त्याग कर जीवों का छिद्रान्वेषण करती हुई उन्हे भगवान् से अलग करना चाहें तो भी भगवान् ऐसे कट्टर भक्त वत्सल हैं कि वे शरणागत जीवों का परित्याग नही कर सकते है । भगवान् कहते है कि इन सभी गुणों से युक्त मुझको ।

२१७–अनेन परव्यूहदेवतान्तर्यामित्वदशाव्यावर्त्यन्ते ।

अनु०—इससे पर- व्यूह और देवता के भी अन्तर्यामित्व दशा की व्यावृत्ति की गयी है ।

भा० दी०—यदि कोई यह कहे कि भगवान तो अतीन्द्रिय है- अतएव उनके शरण मे कैसे जाया जा सकता है ? तो इस प्रश्न का समाधान यह है कि भगवान् अपने- पर- व्यूह- और अन्तर्यामी अव- स्थाओं को न बतलाकर विभवावतार की अवस्था को सबों का शरणा बतला रहे हैं । यह भगवान् की अवस्था साक्षात्कार करने के योग्य है । इसके द्वारा भगवान् का सौलभ्यातिशय्य प्रकाशित होता है ।

२१८–धर्मसंस्थापनं कर्तुमवतीर्णेनैव सर्वधर्मान् परित्य- ज्य मां शरणं व्रजेत्युक्तत्वात् साक्षाद् धर्मस्स्वय- मेवेत्युक्तं भवति ।

अनु०—जो धर्मों की स्थापना करने के ही लिए अवतार लिए हैं वे ही भगवान् कहते है कि सभी धर्मों का परित्याग करके इससे सिद्ध सोता है कि साक्षाद् धर्म भगवान् स्वयम् ही है ।

भा० दी०—गीता के चौथे अध्याय मे भगवान् अपने अवतार लेने के प्रयोजनों मे एक प्रयोजन यह भी बतलाते है कि मैं धर्मों की स्थापना करने के लिए प्रत्येक युगों में अवतार ग्रहण करता हूं । -धर्म- संस्थापनार्थाय सभवाभि युगे-युगे ।' वे ही भगवान् कह रहे है कि सभी धर्मों का परित्याग करके मेरी शरण में आओ । इन परस्पर विरोधी

का स्पष्टीकरण करते हुए श्रीलोकाचार्य स्वामीजी कहते हैं कि भग-वान् साक्षात् धर्म हैं और दूसरे धर्म तो धर्माभास मात्र हैं। अतएव धर्माभास का त्याग करके साक्षात् धर्म को अपना रक्षक मानने के लिए भगवान् कह रहे है! महाभारत में भी कहा गया है कि जो वेदों के जानकार तथा अध्यात्म तत्त्वों के ज्ञाता महात्माजन भगवान् श्रीकृष्ण को सनातन धर्म बतलाते हैं—

-ये च वेदविदोविप्राः ये चाध्यात्मविदो जनाः

ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मसनातनम् ॥

२१९—अनेन त्याज्यत्वेन कथितेभ्यस्साधनेभ्यो विशिष्टतो-च्यते।

अनु०—इसके द्वारा त्याज्य रूप से कहे गये साधनों की अपेक्षा भगवान् रूपी सिद्ध धर्म की विशेषता बतलायी गयी है।

२२०-सा च सिद्धता, परमचेतनता, सर्वशक्तता, निरु-पायता, प्राप्ता, सहायान्तर निरपेक्षता च।

अनु०-वह विशेषता-सिद्धत्व- परम चेतनत्व- सर्वशक्तिमत्त्व-विघ्नरहितत्व- प्राप्तत्व- एवं सहायकान्तर निरपेक्षत्व रूप है।

भा० दी०—इस सूत्र में त्याज्य रूप से बतलाये गये धर्मों की अपेक्षा साक्षात् एवं सनातन धर्म स्वरूप भगवान की छह विशेषतायें बतलायी गयी है। वे हैं—(१) सिद्धत्व—दूसरे धर्म साध्य धर्म अथवा साध्योपाय कहलाते है। साध्य उसे कहते है जो किसी के प्रयत्न से उत्पन्न होता है। कर्म- ज्ञान आदि उपाय चेतनों के प्रयत्न से उत्पन्न

होते हैं । अतएव वे साध्य धर्म हैं । प्रकृत भगवान् सिद्ध धर्म हैं। सिद्ध उसे कहते हैं जो पहले से ही रहता है। भगवान् नित्य हैं- वे किसी के प्रयत्न से साध्य नही हैं। अतएव वे सनातन धर्म हैं ।

(२) परम चेतनत्व—यहां पर त्याज्यत्वेन प्रोक्त सभी धर्म स्वयं जड हैं - वे इस बात को नहीं जान सकते हैं कि मुझे उत्पन्न करने वाला व्यक्ति मुझको किस अभिप्राय से उत्पन्न किया है । अतएव वे साधक के मनोभिलषित अर्थ को प्रदान करने में असमर्थ हैं । भगवान् तो ऐसे धर्म हैं कि वे सर्वज्ञ हैं । वे अपने उपासकों के मन की सारी बातें पूर्ण रूप से जानते हैं । वेदों ने उन्हे सर्वज्ञ एव सर्ववेत्ता बतलाया है—'यः सर्वज्ञः सर्ववित् ।' अतएव भगवान् अपने उपासकों की अभि-लाषा को जानकर उसके अनुसार फल प्रदान करते हैं ।

(३) सर्वशक्तिमत्त्व—अन्य धर्म त्याज्य हैं। धर्म स्वयं अचेतन होने के कारण फल प्रदान करने में असमर्थ होते हैं - किन्तु भगवान तो कर्तुम कर्तुमन्यथाकर्तुम् समर्थ होने के कारण जीवों के अभिलषित सभी अर्थो को प्रदान करने में सर्वथा समर्थ हैं । श्वेताश्वतरोपनिषद में भी बत-लाया गया है कि भगवान् की अनेक प्रकार की परा शक्तियां सुनी जाती हैं

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते ।'

(४) विघ्न रहितत्व—अन्य उपायों के अनुष्ठान मे यह दोष है कि उनकी जो विधि- जैसी बतलायी गयी है- उसका वैसा ही अनुष्ठान करने पर वे फलद होते हैं ! किन्तु विधि में थोड़ी सी भी गड़बड़ी होने पर वे विपरीत फल देने लगते हैं । अतएव वे सापाय भी हैं । किन्तु सिद्ध

यह भगवान् की यह विशेषता है कि उनको शरण मान लेने पर किसी भी प्रकार के विघ्न की अथवा आपत्ति की संभावना ही नहीं रह जाती है। भगवत् शरणागति का अनुष्ठान भी जन्म मरण के चक्र से छुड़ाकर सर्वदा के लिए भगवान् का अन्तरङ्ग किंकर बना देने में समर्थ है।

(५) प्राप्तत्व—अन्य साधनों को तब तक ही अपनाया जाता है जब तक कि फल की प्राप्ति नहीं हो, किन्तु फल मिल जाने पर तो उनको त्याग ही दिया जाता है। जैसे नदी के पार चले जाने पर नाव छोड़ दी जाती है। किन्तु भगवान् तो मिल जाने पर भी नहीं त्यागे जाते हैं। बल्कि वे उपाय दशा में उपेय दशा की ही भांति भोग्यत्वेन सदा प्राप्त रहते है यह भी एक अन्य साधनों की अपेक्षा भगवान् की विशेषता है।

(६) उपायान्तर निरपेक्षत्व—अन्य जितने साधन होते हैं वे फल प्रदान करने में सर्वथा समर्थ नहीं है, बल्कि उनके अनुष्ठान से प्रसन्न होकर भगवान् ही अनुष्ठाता को फल प्रदान किया करते हैं। किन्तु शरणागत जीवों को अभिलषित फल देने के लिए भगवान् को किसी साधनान्तर की अपेक्षा नहीं होती है। अतएव अन्य साधनों की अपेक्षा सिद्धोपाय भगवान की विशेषता सिद्ध होती है।

२२१-अन्योपायास्साध्यत्वात् स्वरूपसिद्धौ साधनमपेक्षन्ते, अचेतनत्वादशक्तत्वाच्च, कार्यसिद्धावीश्वरमपेक्षन्ते, अयं तूपायस्तत् प्रतिकोटित्वादितरनिरपेक्षोभवति।

अनु०—दूसरे उपाय साध्य (प्रयत्न जन्य) होने के कारण

अपने स्वरूप की सिद्धि के लिए चेतनों की अपेक्षा रखते हैं। अचेतन एवं असमर्थ होने के कारण कार्य की सिद्धि मे ईश्वर की अपेक्षा रखते हैं। किन्तु सिद्ध धर्म भगवान् ठीक उसके विपरीत होने के कारण किसी दूसरे की अपेक्षा नही रखते है।

भा० दी०—अन्य धर्म साध्य है- अतएव उनके स्वरूप की सिद्धि तब ही संभव है जब कि कोई उनका अनुष्ठान करने वाला पुरुष हो। अतएव वे अपने स्वरूप की सिद्धि में अनुष्ठान करने वाले पुरुष की अपेक्षा रखते है। परमात्मा तो नित्य एवं स्वयं सिद्ध है। इसी तरह अन्य साधन जड़ होने के कारण अनुष्ठानता पुरुष के अभिमत फल प्रदान करने के लिए ईन्वर की अपेक्षा रखते है। परमात्मा को फल देने मे किसी दूसरे की आवश्यकता नही होती है। अतएव श्री भगवान् साधनान्तर निरपेक्ष साधन है।

२२२-अत्र वात्सल्यस्वामित्व सौशील्य सौलभ्यरूपा-गुणविशेषाः साक्षात्प्रकाशन्ते।

अनु०—यहां पर भगवान के वात्सल्य- स्वामित्व- सौशील्य एवं सौलभ्य ये चार, गुण विशेष स्पष्ट रूप से प्रकाशित होते है।

भा० दी०—यद्यपि भगवान् अनन्त कल्याण गुणसागर हैं फिर भी इस प्रकरण में भगवान् के आश्रयण सौकर्यापादक चार गुण प्रकाशित होते है। उनमें सबसे पहला वात्सल्य है क्योंकि जब दोनों तरफ की सेनाएं लड़ने के लिए तैयार थीं उसी समय बन्धु स्नेह के कारण क्षत्रियों के स्वाभाविक धर्मयुद्ध को अधर्म मानकर अर्जुन लड़ने से

पीछे हट रहा था। किन्तु भगवान् ने उसके इस कादर्य की ओर ध्यान नहीं दिया और अत्यन्त मूल्यवान् गीता का उपदेश दिया। इससे भगवान् का वात्सल्य नामक गुण प्रकाशित होता है। भगवान् ने अपने परात्परत्व का केवल उपदेश ही नहीं दिया किन्तु ग्यारहवें विश्वरूपाध्याय में आपने उसे दिखा भी दिया। इससे भगवान् का स्वामित्व प्रकाशित होता है। त्रैलोक्याधिपति होकर भी भगवान् अर्जुन के हे कृष्ण ! हे यादव हे सखे ! इत्यादि अपने लिये प्रयुक्त सामान्य विशेषणों को सुनकर भी प्रसन्न ही होते थे। नाराज नहीं। इससे भगवान् का सौशील्य नामक गुण प्रकाशित होता है। यद्यपि अर्जुन में इस प्रकार की योग्यता नहीं थी कि वह भगवान् के दिव्य विश्वरूप का दर्शन कर सके, किन्तु भगवान् ने अपने सौलभ्य गुण से प्रेरित होकर अर्जुन को दिव्य चक्षुओं को प्रदान किया। इस तरह पद के द्वारा भगवान् के उपर्युक्त वात्सल्य, स्वामित्व, सौशील्य और सौलभ्य नामक गुण साक्षात्प्रकाशित होते है।

२२३ हस्तगतकशदण्डः, धृतप्रग्रहरज्जुः, सेनाधूलिधूसरित केशपाशः, रथस्याधः प्रक्षालित श्रीपादो एवं स्थित सारथ्यवेशं 'माम' इति प्रदर्शयति।

अनु०– हाथ में चाबुक और लगाम धारण किए हुए, सेना की धूलि से धूसरित केशपाश वाले, रथ के नीचे अपने श्री चरणों

को फैलाये हुए, इस प्रकार के सारथी के वेश में विद्यमान श्री भगवान्, को 'माम्' पद बतलाता है।

भा०दी०– पहले के प्रकरण में यह बतलाया गया है कि भगवान् का अर्चावतार ही सौलभ्य सीमाभूमि है। अब इस सूत्र में बतलाया जा रहा है कि भगवान् का सारथ्य वेश ही उनका सौलभ्य सीमाभूमि हैं। भगवान् के उस दिव्यरूप का वर्णन करते हुए श्री वरवर मुनि स्वामीजी कहते हैं कि घोड़ों के हाँकने तथा अभिलषित स्थान पर स्थित रखने के लिये भगवान् अपने हाथ में चाबुक और लगाम धारण किये है। सिर पर कोई आवरण न होने के कारण सेना की जो धूलि उड़ रही है उससे भगवान् का सिर आच्छादित हो रहा है। सबों को दर्शन देने के लिए भगवान् अपने श्रीचरणों को फैलाये हुए है। उससे परात्पर भगवान का सौलभ्यातिशय्य प्रकाशित होता है। इसी अर्थ को 'माम्' पद बतलाता है।

२२४–२२५–'एकम्' 'अवनिक शब्दः स्थान प्रमाणेनावधारणार्थं बोधयति'

अनु०– 'एकम्' यह एकम् पद स्थान प्रमाण के द्वारा निश्चय रूप अर्थ को बतलाता है।

भा०क्ष०– अब चरम श्लोक के 'एकम्' पद का अर्थ बतालाया जाता है। जिस तरह प्रणव में बिद्यमान् उकार एवकार के अर्थ में

आया है उसी तरह ' एकम् ' शब्द भी। इस तरह ' मामेकम् ' का अर्थ हुआ मुझको ही। इस तरह भगवान् कह रहे हैं कि मुझको ही केवल आत्मोद्धार के साधन रूप से समझो। अर्थात् तुम जो शरणागति कर रहे हो उसे भी आत्मोद्धार का साधन नहीं जानकर मुझको ही आत्मोद्धार का साधन मानो। क्योंकि शरणागति भी उपायान्तरों की ही भांति अनुपाय ही है।

२२६– ' मामेव ये प्रपद्यन्ते, (गी० ७।१४) ' तमेव चाद्यम् ' (गी० १५।४) ' त्वमेवोपायभूतो मे भव ' (आहि०सं०) ' आरे-नेक्कु निन्पादमे शरणाहत्तन्दोनिन्दाय ' (स०गी० ५।७।१० इत्युक्त प्रकारेण।

अनु०– ' जो मेरी ही शरण में जाते हैं ' ' उसी ही आदिपुरुष को ' ' हे भगवन्। आप ही मेरे आत्मोद्धार के साधन बनें ' ' मेरे लिए तो आत्मोद्धार का यही उपाय हैं कि आपने अपने श्री चरणों का उपाय रूप से प्रदान कर दिया है। इत्यादि वाक्यों में उक्त प्रकार से एकम् शब्द निश्चयार्थक है।

भा० दी०– इस सूत्र में ऐसे वाक्य उद्धृत किये गये हैं कि जिनमें शरणगति के वाचक शब्दों के साथ एवकार का प्रयोग किया गया है। उनमें सबसे पहला मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ' यह गीता का वाक्य है। इस वाक्य में भगवान् कहते हैं

कि जो जीव मेरी ही श ण में आ जाते हैं वे माया को पार कर जाते हैं । दूसरा वाक्य है 'तमेब चाद्यम् आदि इसमें बतलाया गया है कि सबके आदिभूत भगवान को ही शरण रूप में जानना चाहिये चौथे 'त्वमेवोपायभूतो मे भव' इस वाक्य में भगवान से प्रपन्न प्रार्थना करता है कि भगवन् । आप ही मेरे आत्मोद्धार के साधन बनें ।' चौथा वाक्य सहस्रगीति का है । इस 'आरे नेक्कू' इत्यादि वाक्य में श्रीसूरि कहने है कि हे भगवन । अपने जो अपने श्री चरणों को मुझे साधन रूप में प्रदान कर दिया है, वही हमारे आत्मोद्धार का साधन है । इन चारो वाक्यों में उपाय वाचक शब्दों के साथ ही एवकार का प्रयोग हुआ है । अतएव चरम श्लोक में भी उपायार्थक 'माम्' पद के साथ आये हुए एकम् पद को, ही का ही वाचक मानना चाहिये । चरम श्लोक के 'सर्बधर्मान् परित्यज्य' इस अंश से उपायान्तर की निवृत्ति तथा पार्थसारथी श्री भगवान् के वाचक 'माम्' पद से देवतांतर की निवृति बतलायी गयी है । श्री वरब मुनि स्वामी जी का अभिप्राय है कि अवधारणार्थक 'एकम्' पद शरणागति में भी उपायत्व बुद्धिका निवर्तक है । शास्त्रों में जो शरणागति को अन्य उपायों से श्रेष्ठ उपाय बतलाया गया है,उसका अभिप्राय है कि शरणागति के विना भगवान् की प्राप्ति कभी संभव नहीं है । शरणागति का वास्तविक अर्थ है भगवान् को ही आत्मोद्धार के साधन रूप में स्वीकार करना । अत एव-

जिस तरह कर्म आदि साधनाभास मात्र हैं उसी तरह शरणागति भी वस्तुतः मोक्षोपाय न होकर नाम मात्र का उपाय है। उपाय तो साक्षत् भगवान् की कृपा ही है। शरणागति तो भगवत् प्राप्ति के साधन रूप से भगवत् कृपा को ही कहते हैं। शरणागति का लक्षण ही यह है कि स्वयं अकिंचन और अनन्यगति (भगवान् के अतिरिक्त दूसरे को रक्षक नही मानना) बनकर भगवान् से प्रार्थना करना कि प्रभो मेरे एक मात्र आप ही रक्षक हो सकते हैं—'त्वमेवोपायभूतो में भवेति प्रार्थना मतिः शरणागतिः' परमाचार्य भगवत्सिंहासनावतार श्री यामुनाचार्य भी इसी तरह की शरणागति का स्वरूप बतलाते हुए स्तोत्ररत्न में कहते हैं—'अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्य ! त्वत्पादमूलं शरणम् प्रपद्ये' इसी अर्थ जात को अपने हृदय में रखकर श्रीलोकाचार्य स्वामीजी कहते हैं—

२२७—अनेन 'व्रज' इत्युच्यमाने स्वीकारे उपायभावो निवर्त्यते

अनु०—इसके द्वारा व्रज शब्द के विहित स्वीकार के उपाय का अभाव बतलाया गया है।

भा० दी०—अर्थात् व्रज पद के द्वारा शरणागति के उपायत्व बुद्धि को जो स्वीकार करने को बतलाया जाता है उसी उपायत्व बुद्धि का अपनोदन यह अवधारण करता है।

२२८—स्वीकारश्च भगवत्कृतः ।

अनु०—स्वीकार भी भगवान् की देन है।

भा० दी०—अर्थात् यदि कोई यह कहे कि यह सत्य है कि भगवान् ही हमारे रक्षक हैं जब तक हम उन्हें उपाय रूप से नही स्वीकार करेंगे

तब तक वे हमारी रक्षा नहीं करेंगे अतएव स्वीकार को ही उपाय मानना चाहिए। तो इसका उत्तर देते हुए श्री लोकाचार्य स्वामीजी का कहना है कि—हम जो उपाय रूप से भगवान् को स्वीकार कर रहे हैं यह हमारे प्रयत्न का फल नहीं है- बल्कि भगवान् अनादि काल से हमारे उद्धार के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। उसी का फल है कि आज हमारे मन में भगवान् को उपाय रूप से स्वीकार करने की इच्छा जागृत हुई है। भगवान् की कृपा के बिना हमारा इस मार्ग मे आना अत्यन्त असंभव था। अतएव यह भगवान् को उपाय रूप से स्वीकार करना भी हमारे प्रयत्न का फल न होकर भगवत्—कृपा मात्र का फल है। अतएव इस स्वीकार को अपने प्रयास का फल तथा भगवत् कृपा का कारण बतलाना अपने अज्ञान का फल मात्र ही माना जा सकता है

२२६—'सृष्ट्यवतारादिमुखेन तत्कृतायाः कृषेः फलम् ।'

अनु०—सृष्टि- अवतार आदि के द्वारा भगवत् कृत प्रयास का यह फल है स्वीकार।

भा० दी०—जैसे कोई किसान कृषि करता है तो उसके लिए उसको श्रृंखलावद्ध न्याय से अनेक प्रयास करने पड़ते हैं। उसी तरह से भगवान् की चेतनोद्धार रूपी कृषि के पूर्वांग हैं जगत् की सृष्टि अव-तार इत्यादि उसका कुछ विस्तृत रूप इस प्रकार समझना चाहिए कि प्रलय काल में जिस समय जीवों के करण कलेवर आदि उपरात हो गये थे। लोष्टपिण्ड के समान किमपि कर्तुमसमर्थ जीव अपने उद्धार के लिए प्रयास करने मे असमर्थ अपने कर्मों का फल भोग रहे थे तब

उन्हें इस तरह असमर्थ देखकर अकारण करुणा-वरुणालय श्री भगवान् का भी वात्सल्य प्रेरित भावना के कारण जगत् की सृष्टि करने का सत्य संकल्प हुआ। पुनः भगवान ने मुझे यह मानव शरीर प्रदान किया एतदर्थ कि जीव अपने शश्वत निलय रूप मुझको पहचानकर मेरी आराधना करे- और मैं उसको अपना सकूं। इस अपूर्व शरीर सम्पत्ति को प्रदान करके प्रभु ने अपनी आराधना के अनुकूल ज्ञान प्रदान किया। फिर स्वय राम कृष्णादि अवतारों को ग्रहण कर लोकोचित एवं मोक्षोपयोगी व्याहार व्यवहारों के द्वारा हमे सन्मार्ग प्रदर्शित किया। इतना ही नहीं सदाचार्य का रूपधारण कर स्वयं प्रभु ने समय समय से हमे सत्पथ पर प्रवर्तित किया जिसका फल है कि हम श्री भगवान् को मोक्ष के उपाय रूप से स्वीकार कर सके। अतएव स्वीकार भगवान की कृपा का फल है- कारण नही।

इसी अर्थ को श्री शठकोप सूरि की एक गाथा से अभिव्यक्त किया गया है। जो निम्न सूत्र रूप है।

२३०—'अदुवुमवनदिभरूले'

अनु०—(मैंने जो भगवान से कृपा प्राप्त करने के लिए उनको अपनी इच्छा का विषय बनाया-) वह भी उनकी अहैतुकी कृपा ही है

भा० दी—इस गाथा मे श्री शाठकोप सूरि यह बतला रहे हैं कि भगवान् की कृपा होने पर ही हम उनसे कृपा पाने की कामना करते ह। क्योंकि अनादि काल से भगवत् पराङ्मुख जीव उनसे कृपा प्राप्त करने की इच्छा करे यह साधारण कार्य नही है। ऐसा तो भगवत् कृपा

से ही होना संभव है।

२३१–अनेन विनापि कार्यं कुर्यादित्यनुसन्दधीत ।

अनु०—उपायवरण के विना भी भगवान हमारी रक्षा का कार्य करेंगे- यह अनुसंधान करना चाहिए।

भा० दी०—श्री मुमुक्षुपडि ग्रन्थ में बतलाया गया है कि मोक्ष प्राप्ति के लिए भगवान सहायकान्तर निरपेक्ष साधन बतलाये गये हैं। अतएव शरणागति को मोक्षोपाय रूप से स्वीकार करना अनिवार्य नही है। अतएव इसके अभाव मे भी भगवान् मोक्षप्रदान कृपाकरके ही कर देते है।

२३२–अन्यथातूपायनिरपेक्षत्वं न जोवेत ।

अनु०–यदि ऐसा न माना जाय तो भगवान् की उपाय निरपेक्षता नहीं सिद्ध हो सकती है।

भा० दी०–यदि शरणागति के अभाव मे भी भगवान् का मोक्ष प्रदत्व नहीं स्वीकार किया जाय- तो फिर भगवान् को उपाय निरपेक्ष मोक्ष साधन नही स्वीकार किया जा सकता है

फिर प्रश्न यह उठता है कि यदि शरणागति के बिना भी भगवान् मोक्ष प्रदान करते है तो ऐसी स्थिति में शास्त्रों मे शरणागति को मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ साधन बतलाकर उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन क्यों किया गया है। खास कर गीता शास्त्र को तो शरणागति शास्त्र ही कहा जाता है। और यह चरम श्लोक क्यों शरणागति का विधान करता है? तो इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री लोकाचार्य स्वामीजी कहते है।

२३३—अयं सर्वमुक्तिप्रसङ्गपरिहारर्थः, बुद्धिसमाधानार्थः, चैतन्यकार्यम्, रागप्राप्तः, स्वरूपनिष्ठः, अप्रतिषेधद्योतकश्च ।

अनु०—सबों की मुक्ति के प्रसंग के परिहार के लिए- बुद्धि के समाधान के लिए शरणागति को मोक्षोपाय रूप से स्वीकार किया जाता है। किञ्च यह चेतना का आवश्यक कार्य है- रागतः प्राप्त है स्वरूप निष्ठ है । तथा प्रतिषेध के अभावका सूचक है ।

भा० दी०—यद्यपि भगवान् मोक्ष प्रदान शरणागति के वदले में करते हों ऐसी बात नही है- वे अपनी कृपा से ही जीवों को मोक्ष देते है किन्तु शरणागति को शास्त्रों मे जो मोक्षोपाय बतलाया गया है उसके निम्नलिखित कारण हैं।

अर्थात् यदि कोई यह प्रश्न करे कि यदि भगवान् जीवों पर कृपा करके ही उन्हें मोक्ष प्रदान करते है- तो संसार के सभी जीव उनके कृपा के पात्र है- अतएव सभी जीवों को वे समकाल में ही मोक्ष क्यों नहीं प्रदान कर देते है। तो इसका उत्तर शास्त्र देते है कि जो शरणागति करता है उसे ही मुक्ति मिलती है, दूसरों को नही ।

२-बुद्धि समाधानार्थ—अनादि काल से हम भव—चक्र मे पड़े हुए है- हमें मुक्ति इस लिए नही मिली कि हम उसके लिए प्रयास नहीं किये । यदि आज भी पहले के ही समान चुप—चाप रहें तो फिर कैसे सोच सकते है कि भगवान् हमे इस बार मोक्ष अवश्य प्रदान करदेंगे। अतएव भगवान् के रक्षकत्व रूपी महा विश्वास मे कमी आ जाती है ।

किन्तु जब हम शरणागति कर लेते है तो हमें यह महाविश्वास बन जाता है कि इस जन्म में मैने चूंकि शरणागति की है। और शास्त्र बतलाता है कि शरणागति जीवों को मोक्ष अवश्य मिलता है। अतः मुझे मुक्ति अवश्य मिलेगी। इस प्रकार के महा विश्वास रूपी बुद्धि समाधान के लिए शास्त्रीय शरणागति को स्वीकार करना आवश्यक बतलाता है।

३—चैतन्य का कार्य है शरणागति—जीव को चेतन इसलिए कहा जाता है कि चैतन्य (ज्ञान) उसका विशेष गुण है . जो ज्ञानवान् होता है वह इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट का परिहार चाहता है। ज्ञान होने के कारण यह जानता है कि स्वरूप ज्ञान- इष्ट की प्राप्ति के लिए अत्यावश्यक है। और हमारा स्वरूप परमात्मक शेषत्व रूप है- एतदर्थ शरणागति करना आवश्यक है। इस तरह भगवान् को ही मोक्ष का साधन मानना ज्ञान का फल है। किसी फल की प्राप्ति का साधन नही।

४—शरणागति रागतः प्राप्त है—रागतः प्राप्त उस बस्तु को माना जाता है जिसमे जीव की स्वभावतः प्रवृत्ति हो। वह उसे भोग्य रूप से प्रतीत होए। भगवान् का नित्य कैंकर्य रूप मोक्ष इसलिए अभिष्ट है कि वह जीव को अत्यन्त प्रिय है। उसी तरह लोक मे भी श्री भगवान् की कीजानेवाली शरणागति भी अत्यन्त प्रिय होने के कारण वह भोग्य ही है। अतएव वह रागतः प्राप्त है जीवों के लिए चूंकि रागतः प्राप्त साधन में जीव की शीघ्रतम प्रवृत्ति होती है- अतएव शरणागति को मोक्षोपाय रूप से स्वीकार किया जाता है।

५—शरणागति स्वरूप के अन्तर्गत है—शास्त्रों में जीव के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए उसे परमात्मा का शेष बतलाया गया है- और

उसकी पूर्ति तभी संभव है जब कि परमात्म पारतंत्र्य रूप शरणागति स्वीकार किया जाय। अतः स्वरूपानुरूप होने के कारण शरणागति स्वीकार करना चाहिए।

६–शरणागति अप्रतिषेध का सूचक है—भगवान् जीव का कल्याण करने की इच्छा रखते हैं किन्तु यह जीव भगवान् की इस कृपा को पहचान न सकने के कारण भगवत् पराङ्मुख रहा करता था- जो इसके स्वरूप के विरूप था। जब सदाचार्य की कृपा होती है तो वह समझता है कि भगवत् पारतंत्र्य ही हमारा स्वरूप है। भगवान् हमारे स्वामी हैं और हम उनके सम्पत्ति एकमात्र प्रयोजन है भगवान् की सेवा भगवान् अपनी सम्पत्तिभूत मेरी रक्षा तो अवश्य करेंगे। अभी तक जो अपनी रक्षा का हम प्रयत्न करते रहे- उससे भगवान् के द्वारा की जाने वाली अपनी रक्षा का हम प्रतिषेध करते रहे। अब मैंने भगवान् की शरणागति कर ली है। अब मेरी रक्षा का साराभार भगवान् पर ही है। इससे भगवान् के द्वारा की जाने वाली रक्षा का प्रतिषेध भी नहीं होगा। तो अप्रतिषेध रूपा होने के कारण भी शरणागति को स्वीकार अवश्य करना चाहिए।

३३४–सर्वधर्मान् परित्यज्येत्यनेन, साधनान्तरविशिष्ट स्वोपायभावो व्युदस्तः एकमित्यनेन स्वीकर्तृविशिष्टस्वोपायभावो व्युदस्यते।

अनु०—सर्वधर्मान् परित्यज्य इस अंश के द्वारा भगवान् ने साधनान्तर विशिष्ट अपने मोक्षोपायत्व का निराकरण किया है और एकम् पद के द्वारा भगवान् ने शरणागत से विशिष्ट अपने उपाय भाव

का निराकरण किया है ।

भा० दी०—पहले के सूत्रों में अनेक जगह यह बतलाया गया है कि भगवान् साधनान्तर निरपेक्ष मुक्ति के साधन हैं । अतएव मुक्ति प्रदान करने में दूसरे साधनों की सहायता आवश्यक नहीं है । एकम् पद का अभिप्राय यह है कि साधक को यह मानकर भी सिद्धोपाय रूप भगवान् की शरणागति नही करनी चाहिए कि मोक्ष के उपाय रूप से भगवान् की शरणागति करता हूँ । इस तरह से भगवान् की शरणागति करने मे क्या दोष है ? इस बात को अगले सूत्र मे बतलाया गया है ।

२३५–अनेन क्रियमाणं तदाश्रयणमहंकारगर्भमवद्यकरम् ।

अनु०—जीव के द्वारा मोक्षोपायबुद्धया की जाने वाली भगवन् की शरणागति अहंकार युक्त होने से दोषावह है ।

भा० दी०—उपाय बुद्धया की जाने वाली शरणागति मे अहंकार का पुट बना रहता है । और उस अहंकार के संम्मिश्रण होने से शरणागति दूषित हो जाती है । अतएव वह रक्षिका नहीं हो सकती है

अब प्रश्न यह उठता है कि फिर किस प्रकार की शरणागति रक्षिका होती है तो इसका उत्तर अगले सूत्र में दिया जाता ।

२३६–तदीय स्वीकार एव रक्षकः ।

अनु०—भगवत्स्वीकार ही रक्षक है ।

भा० दी—अर्थात् जब भगवान् यह संकल्प करते हैं कि यह जीव संसार सागर से अत्यन्त दुखी है । इसकी मुझे रक्षा करनी चाहिये । तो भगवान् का यह सकल्प ही रक्षक होता है ।

२३७—अन्येषामुपायानां निवृत्तिर्दोषः; अस्य तु प्रवृत्तिर्दोषः ।

अनु०—अन्य उपायों का दोष निवृत्ति है और इसका दोष प्रवृत्ति है ।

भा० दी०—कर्म योग आदि अन्य उपायों में उनके अङ्ग रूप से अनेक कार्यों में प्रवृत्ति करनी पड़ती है । उन अङ्गों को छोड़ देना ही आपत्ति कारक है । किन्तु शरणागति में तो सभी कर्मयोग आदि का त्याग अपेक्षित है । उनमें प्रवृत्ति का होना ही दोषावह है ।

२३८—'शित्तवेण्डा'

अनु०—इस अर्थ के विषय में शितिवेण्डा गाथा ही प्रमाण है ।

भा० दी—सहस्रगीति के (९।१।७) गाथा में श्री शठकोप सूरि कहते हैं । शितिवेण्डा अर्थात् 'किसी प्रकार की प्रवृत्ति मत करो ।' इस गाथा में श्री सूरि कहते है कि—संसार के सभी प्राणियों से मैं कहता हूँ कि कर्मयोगादि अनुष्ठानों को करने से केवल शरीर को आयास समात्र करना होता है । इससे अच्छा तो यही है कि केवल भगवान् को एवं उनके उपकारों को स्मरण किया जाय ।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि यदि भगवान् के उपकारों का स्मरण किया जाय उसके लिए स्मरण कीर्तन आदि व्यापार करने तो पड़ेंगे ही अतएव यह कैसे कहा जा सकता है कि कोई व्यापार नहीं करना चाहिए? तो इसका उत्तर अगले दो सूत्रों में दिया जा रहा है ।

२२९—निवृतेरावश्यकता पूर्वमुक्त ।

अनु०—निवृत्ति की अवश्यकता पहले ही सर्वधर्मानपरित्यज्य इस

अंश से बतलायी जा चुकी है ।

२४०—उपकारस्मृतिरपि चैतन्यप्रयुक्ता नोपायेन्तर्भवति ।

अनु०—उपकार का स्मरण भी उनके कारण होता अतएव वह उपाय के अन्तर्गत नहीं आ सकता है ।

भा० दी०—पहले यह बतलाया जा चुका है कि चैतन्य का कार्य है शरणागति को उपाय रूप से स्वीकार करना उसी तरह भगवान् के उपकारों का स्मरण करना भी चैतन्य (ज्ञान) का ही कार्य है । अतएव वह उपाय नहीं हो सकता है । चूँकि हम ज्ञानवान् हैं अतएव स्वभावतः भगवान् के उपकारो का स्मरण करते हैं । उसके बदले मे कुछ पाने के उद्देश्य से हम स्मरण करते हों- ऐसी बात तो है नही । सहस्रगीति के (२।७।८) गाथा में श्री सूरि स्वय भगवान् के उपकारों का स्मरण करते हुऐ कहते है कि प्रभो ! आपने मेरे दुष्ट मन को ही नष्ट कर दिया जिसके कारण वह सांसारिक विषयों मे नही जाता है ऐसे ही वे (२।२।७) गाथा में कहते है कि—प्रभो आपने तो मुझे ऐसा मन प्रदान कर दिया जो सदा प्रेम पूर्वक आपको ही प्रणाम करने मे लगा रहता है । अतएव भगवान् के उपकारों का स्मरण उपाय कक्ष्या मे नही आ सकता है ।

२४१-२४२—शरणम् उपायत्वेन ।

अनु०—शरणम्—पद का अर्थ है उपाय रूप से ।

२४३—अयं शरणशब्दो रक्षितुः, गृहस्य उपायस्य च

वाचकोऽपि अत्रोपायमेव बोधयति ।

अनु०—यद्यपि यह शरण शब्द रक्षक- गृह तथा उपाय का भी वाचक है फिर भी यहां यह उपाय को ही बतलाता है ।

भा० दी०—उपाये गृहरक्षित्रोः शब्दः शरणमित्ययम्' इस कोश के अनुसार शरण शब्द समान रूप से उपाय- गृह- और रक्षक इन तीनों का वाचक है । भगवान् में ये तीनों अर्थ अन्वित भी है- क्योंकि भगवान् ही अपनी प्राप्ति में उपाय हैं । वे जीवों के शाश्वत निलय तथा निरूपाधिक रक्षक हैं- फिर भी प्रकरण के अनुसार यहां शरण शब्द केवल उपाय को ही बतलाता है । क्योंकि इस वाक्य में भगवान् यही बतलाते है कि—दूसरे सभी उपायों को वासना के साथ छोड़कर मुझको ही उपाय रूप से स्वीकार करो ।

२४४—२४५—व्रज बुद्धयस्व ।

अनु०—व्रज का अर्थ है जानो।

२४६—गत्यर्थस्य बुद्धयर्थत्वादध्यवसायं कुर्विति यावत् ।

अनु०—गत्यर्थक धातुओं के बुद्धयर्थक होने के कारण व्रज का अर्थ निश्चय करो है ।

भा० दी०—व्रज गतौ धातु को आज्ञार्थक लोट लकार मे व्रज रूप बनता है । इसका अर्थ है जाओ । किन्तु व्याकरण शास्त्र में गत्यर्थक धातु बुद्ध्यर्थक भी आवश्यकतानुसार मान लिया जाता है । अतएव यहाँ इसका अर्थ मानना या समझना होता है । यहां पर बुद्धि शब्द ज्ञान सामान्य का वाचक न होकर ज्ञान विशेष का वाचक है । इस ज्ञान

की क्या विशेषता है ? इसको परन्द पडि नामक रहस्य ग्रन्थ में श्री लोकाचार्य स्वामीजी ने बतलाया है ।

यह बुद्धि शब्द निश्चयात्मक ज्ञान विशेष का वाचक है । जिस ज्ञान की विशेषता है कि (१) वह-कर्मयोग आदि के समान त्याज्य कोटि में नहीं आता है (२) यह उपाय कोटि में भी नही आता (३)यह प्रापकान्तर परित्याग पूर्वक होता है । (४) इसके चलते जीव अपने को भगवान् का रक्ष्य मानता है । (५) यह ज्ञान का कार्य है । (६) यह भगवान् के नित्य एवं ऐकान्तिक कैकर्य करने के लिए प्रार्थना से युक्त है । (७) इससे भगवान् का मुखोल्लास होता है (८) यह जीव के स्वरूपानुरूप है । (९) इसमें कोई व्याभिचार अथवा विलम्ब न होने से भगवान की निश्चित रूप से तथा शीघ्र प्राप्ति का साधन रूप है इस तरह इसकी उपयुक्त नव विशेषताए है ।

अब प्रश्न उठता है कि ब्रज धातु तो सामान्यतः गति का वाचक होता है । और गति तीन प्रकार की होती है । कायिक- वाचिक और मानसिक । अव यहाँ पर किस प्रकार की गति अपेक्षित है ? तो इसका उत्तर अगले सूत्र मे दिया जाता है ।

२४७—वाचिक कायिकोऽप्यपेक्षितत्वेऽपि 'ज्ञानान्मोक्ष' इत्युक्त-त्वात् मानसानुष्ठानमात्रं वदति ।

अनु०—वाचिक एवं कायिक (शारीरिक) शरणागति के अपेक्षित होने पर भी यहां पर मानसिक अनुष्ठान मात्र को ही बतलाया गया है क्योंकि ज्ञान से मोक्ष होना है ।

भा० दी०—सहस्र गीति के (६।५।११) गाथा में वाचिक कायिक एवं मानसिक इन तीनों प्रकार की शरणागति को अधिकारी के उपाय की पूर्ति का साधन बतलाया गया है । फिर भी यहां यह कहा जाता है कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है । अर्थात् कायिक और वाचिक शरणागति स्थल में भी शरणागति ज्ञान को उत्पन्न करके ही मोक्ष का साधन बनती है । अतएव यहां पर मानसिक शरणागति को व्रज पद बतलाता है

२४८—एतावता-त्याज्यमुक्त्वा, त्याज्यप्रकारमुक्त्वा, आश्रयणीयमुपायमुक्त्वा, उपायनैरपेक्ष्यमुक्त्वा, उपायत्व मुक्त्वा, उपायस्वीकार उच्यते ।

अनु०—इसके द्वारा त्याज्य- त्याज्य के प्रकार, स्वीकार करने योग्य उपाय- उपायान्तर की निरपेक्षता और उसकी उपायता को बतलाकर उपाय का स्वीकार बतलाया गया है

भा० दी०—चरम श्लोक के प्रत्येक पदों के अर्थ का अलग-अलग विवरण बतलाकर अब पूर्वार्द्ध में बतलाये गये सभी अर्थों का इस सूत्र में संग्रह किया गया है। सर्व धर्मान् पद से सभी कर्म योग आदि को शरणागति के लिए पूर्वाङ्ग रूप से त्याज्य बतलाया गया है। परित्यज्य पद से त्याग के प्रकार को बतलाया गया है। उसका अभिप्राय है कि इनका वासना त्याग पूर्वक त्याग करना चाहिए जिससे जीवन में इसका पुनः उन्मेष न हो सके । माम् पद से सिद्धोपाय भगवान् को ही उपाय बतलाया गया है। एकम् पद के द्वारा इस उपाय की सहायकान्तर निरपेक्षता बतलायी गयी है । शरणम् पद से भगवान् की भक्ति की

प्राप्ति में स्वतन्त्रोपायता बतलायी गयी है और व्रज पद से उपाय स्वीकार बतलाया नया है।

२४९-५०—अहम्; स्व कृत्यं वदति ।

अनु०—मैं- आदि उत्तरार्द्ध के द्वारा भगवान् अपना कर्तव्य बतला रहे हैं।

२५१-सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् प्राप्तश्चाहमित्यर्थः ।

अनु०—सर्वज्ञ- सर्व शक्तिमान और प्राप्त मैं- अहम् पद का अर्थ है।

भा० दी०—उत्तरार्द्ध में भगवान् अपना कर्तव्य बतला रहे हैं यहाँ भगवान् का कार्य शरणागत को फल प्रदान करना है उसके अनुसार ही यहाँ अहम् पद का अर्थ बतलाया जा रहा है। इस पद से भगवान् के तीन गुण अभिप्रेत हैं। सर्वज्ञत्व- सर्वशक्तिकत्व और प्राप्तित्व शरणागत के दोषों और दुःखों तथा उसके प्राप्य मोक्ष को समझने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है। अतएव उसके अनुकूल गुण भगवान् में बतलाया गया कि वे सर्वज्ञ और सर्व वेत्ता हैं। इस अर्थ को 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' श्रुति भी बतलाती है। इसका अभिप्राय है कि परमात्मा सभी वस्तुओं को सामान्यतः एवं विशेष रूप से जानता है। दोषों एवं दुःखों को दूर कर मोक्ष तक पहुँचाने के लिए शक्ति भी अपेक्षित होती है। तो भगवान् को श्रुतियाँ सभी शक्तियों से युक्त बतलाती हैं। एक श्रुति बतलाती है कि परमात्मा अनेक परा शक्तियों का आश्रय है। 'पराऽस्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते'। श्री विष्णु पुराण में बत-

लाया गया है कि भगवान् अचिन्त्य ज्ञान के विषय भूत शक्तियों का आश्रय है परमात्मा। जिसके द्वारा वह सभी भाव पदार्थों की सृष्टि किया करता है—शक्तयः सर्वभावानाममचिन्त्यज्ञानगोचराः।'

यहाँ भगवान् का सबसे प्रधान गुण प्राप्ति बतलाया गया है। जिसके अभाव में हमें भगवान् की प्राप्ति नहीं हो सकती है। भगवान् हमारे स्वामी हैं और हम उनके स्व (सम्पत्ति) हैं। सम्पत्ति की रक्षा का काम स्वामी का है क्योंकि उससे उसी का लाभ होता है। इस स्व स्वामी संबन्ध के द्वारा यह दृढविश्वास होता है कि श्री भगवाम् हमारी अवश्य रक्षा करेंगे। भगवान् का यही गुण प्राप्ति कहलाता है।

२५२—अस्यपूर्वस्थितिं पश्चाद्गन्तव्यमार्गं च ज्ञातुम्, यथाज्ञानं कर्तुं चोपयुक्तान् गुणविशेषान् स्वार्थत्वबुद्धया करणस्योपयुक्तसंबन्धविशेषञ्च द्योतयत्ययं शब्दः।

अनु०—शरणागत जीव की पहले की स्थिति और मोक्ष के पश्चात् जाने योग्य मार्ग को जानने के लिए और ज्ञानानुकूल करने के लिए उपयुक्त गुण विशेषों को तथा स्वार्थत्व की बुद्धि से मोक्ष प्रदान रूप कार्य करने के अनुकूल सबन्ध विशेष को यह अहम् पद प्रकाशित करता है।

भा० टी०—कहने का भाव यह है कि जैसे पूर्वार्द्ध के (माम्) पद का अर्थ बतलाते हुए वहाँ पर भगवान् के आश्रयणों पयोगी वात्सल्य स्वामित्व आदि कल्याण गुण बतलाये गये है। उसी तरह यहां पर अहम् पद का अर्थ करते समय भगवान् के मोक्ष प्रदान करने के लिए उपयोगी उपर्युक्त तीन गुण बतलाये गये हैं। इसमें चेतन की इष्ट प्रिप्ता

अनिष्ट के परिहार के लिए पहले की स्थिति को जानकर मोक्ष प्रदान करने के लिए उपयोगी गुण है सर्वज्ञत्व और सर्व शक्तित्व। जीव की रक्षा स्वार्थ बुद्धि से भगवान् करते है- इसके लिए उपयोगी गुण प्राप्ति है।

२५३—स्वरक्षणाय परिगृहीते सारथ्यवेषे सौशील्य कृतत्वमप्रतिपाद्य स्वभृत्यभाव निबन्धनता प्रतिपाद्य चकितस्य पार्थस्य स्वस्वरूपयाथात्म्यम् 'अहमि' ति दर्शयति।

अनु०—अपनी (अर्जुन की) रक्षा के लिए सारथी का वेष धारण करना उनके सौशील्य गुण का कार्य है यह न समझकर अपनी दास भावना के कारण समझकर चकित अर्जुन के आश्चर्य को दूर करने के लिए भगवान् अहम् पद से अपने स्वरूप की वास्तविकता बतला रहे हैं।

भा० दी०—इस सूत्र में अहम् पद का एक और अर्थविशेष प्रदर्शित किया गया है। अर्जुन की रक्षा करने के लिए भगवान् ने सारथी का वेष बनाया। जिस तरह स्वामी अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने के लिए अनेक उपायों को करता है- उसी तरह भगवान् ने भी अर्जुन की रक्षा करने के लिए सारथी का वेष बनाया। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि भगवान् ने अपना यह रूप अपने सौशील्य गुण से प्ररित होकर ग्रहण किया। अर्जुन ने भगवान् के इसे सौशील्य गुण के कार्य

को न समझकर यह समझ लिया कि भगवान् तो हमारे भृत्य बन: गये अतएव वह अत्यन्त भयाक्रान्त और आश्चर्य चकित था।

यद्यपि उसने एतदर्थ प्रार्थना भी की फिर भी उसका मन भयाक्रांत ही था अतएव भगवान् अपने वास्तविक स्वरूप को बतलाते हैं अहम् पद से। इस अहम् पदार्थ का प्रतिपाद्य जो प्राप्ति गुण है उससे स्पष्ट है कि स्वामी होने के कारण भगवान् अपने सौशील्य गुण से प्रेरित होकर अर्जुन की रक्षा करने के लिए सारथी का वेष बनाये।

२५४–सारथीभावरूपं प्राक्तनपारतन्त्र्यमप्यस्य स्वातन्त्र्यस्य सीमाभूमिःखलु।

अनु०–भगवान् का उक्त सारथी भाव रूप पारतन्त्र्य भी उनके स्वातन्त्र्य की पराकाष्ठा ही है।

भा० दी०–यदि कोई यह कहे कि भगवान् स्वतन्त्र है तो वे फिर अर्जुन के सारथी कैसे बने? सारथी तो रथी की आज्ञा का पालन करने वाला नौकर ही तो होता है? तो इसका उत्तर देते हुए श्री लोकाचार्य स्वामी जी कहते हैं कि भगवान् की यह परतंत्रता भी उनके स्वातन्त्र्य की चरमकाष्ठा है। क्योंकि स्वतन्त्र उसे ही कहते हैं जो अपनी इच्छा से ही मनोनुकूल कोई कार्य करे। भगवान् अपनी विलक्षण इच्छा विशेष से अर्जुन के सारथी बन गये। यह काम भगवान् किसी के दबाव में आकर नहीं- अपितु अपनी इच्छा से किये- अतएव यह भी उनकी स्वतन्त्रता का एक रूपान्तर ही है।

२५५ ५६–अज्ञमशक्तमप्राप्तं मामेवोपायत्वेनाश्रितवन्तं त्वाम्।

अनु०—त्वा पद का अर्थ- है अज्ञ- अशक्त- अप्राप्त- एवं मुझको ही उपाय रूप से, वरण करने वाले तुमको।

भा० दी०—उत्तरार्द्ध का दूसरा पद त्वा है। इसका अर्थ है तुमको। यहां पर तुम पद से अर्जुन अभिहित किये गये है। अर्जुन शब्द से सभी शरणागत उपलक्षित किये गये हैं। अहम् पद के अर्थ रूप में जो–जो गुण बतलाये गये है ठीक उसके विपरीत यहां त्वा पद के अर्थ मे गुण बतलाये जाते है। अहम् पद का अर्थ बतलाते हुए पहला गुण सर्वज्ञत्व बतलाया गया है। यहां सबसे पहला गुण अज्ञत्व बतलाया जाता है। इसका अर्थ यह है कि तुम यह नहीं जानते हो कि तुम्हारा कार्य क्या है? तुम्हें न तो अपनी वर्तमान दशा का ज्ञान है और न तो प्राप्त दशा का। यदि जान भी जाओ तो उसे पाने की शक्ति नहीं है। अतएव तुम अशक्त हो। यदि तुममें उसको प्राप्त करने की शक्ति भी आ जाय तो तुममें ऐसी योग्यता नहीं है कि तुम अपनी रक्षा कर सको। इस प्रकार की योग्यता का अभाव ही अप्राप्ति कहलाता है। अर्थात् यह चेतन भगवान् का परतंत्र है- अतएव स्वय अपनी रक्षा करने मे असमर्थ है। यदि वह स्वयं अपनी रक्षा की चेष्टा करता है तो इससे उसका स्वरूप नष्ट होता है।

यद्यपि ये तीनों गुण सभी चेतनों में पाये जाते है। जीव को 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ' श्रुति मे अतएव अशक्त बतलाया गया है। फिर भी भगवान् सबका उद्धार नही करते है। बल्कि वे उसी का उद्धार करते है जो उनको ही उनकी प्राप्ति का उपाय मान ले। अतएव भगवान् कहते हैं कि तुमने मुझको ही अपना शरण मान लिया है। अत-

एव तुम्हारा उद्धार मैं अवश्य करूगा ।

२५७ ५८—सर्वपापेभ्यः—मत्प्राप्तिप्रतिबन्धकानीति येभ्योयेभ्यः पापेभ्यो त्रिभेषि तेभ्यस्तेभ्यः सर्वेभ्यः पापेभ्यः ।

अनु०—सर्व पापेभ्य का अर्थ है कि मेरी (भगवान् की) प्राप्ति के प्रतिबन्धक रूप जिन-जिन पापों से तुम डर रहे हो उन सभी पापों से ।

भा० दी०—सामान्य रूप से विरोधी को पाप कहते हैं । चूंकि यह पकरण भगवत् शरणागति का है अतएव यहां पर पाप शब्द से भगवत् प्राप्ति के विरोधी कहे गये है क्योंकि भगवत् ज्ञान विरोधी-रुचि विरोधी तथा उपाय विरोधी का पहले ही वर्णन किया जा चुका है ।

२५९—'पोयनिन्नज्ञानमुम् पोल्लावोलुक्कु अलुक्कुडम्बुम्' इत्युक्तप्रकारेण अविद्याकर्मवासनारूचि प्रकृति संबन्धान् वदति ।

अनु०—देह में होने वाले आत्मा का भ्रम- असत् कर्म अशुद्ध शरीर' इत्यादि श्री परांकुश सूरि की उक्ति के अनुसार यहाँ—अविद्या-कर्म- वासना- रुचि एवं प्रकृति संबन्ध कहे गये हैं ।

भा० दी—प्रस्तुत सूत्र में श्री लोकाचार्य स्वामीजी सर्व पापेभ्यो में किये गये बहुवचनान्त प्रयोग का आशय बतलाते हुए कहते हैं कि श्री शठकोप सूरि ने अपने तिरुविरुत्तम ग्रन्थ में भगवान् से प्रार्थना करते हुए कहा है कि 'पोयनिन्नज्ञानमुम् पोल्ला वोलुक्कु अलुक्कुडम्बुम्' अर्थात् हे भगवन ! हे प्रभो ! हमे जो—पोयानिन्नज्ञानमुम् = असत्य (अनित्य) देह में

आत्मभ्रम (देहात्म भ्रम- हो गया है उसको तथा हमारे- पोल्लावोलुक्कुम् असत् कर्म- अलुक्कुडम्बुम् = अशुद्ध शरीर' इन सबों की आप निवृत्ति कर दें इस तिरुविरुत्तम् ग्रन्थ का पद्यानुवाद प्रतिबादि भयंकर मठाधीश्वर श्री अनन्ताचार्य स्वामीजी ने इस प्रकार किया है-

देहात्मभ्रमतन्निबन्धनदुराचारौघतन्मूलक,
प्रोद्यत्कच्चरदेहसङ्गतमयीमेतादृशी नः स्थितिम् ।
देवाधीश ! हरे ! निवर्तय, कृपाभूम्नेति विज्ञापनम् ।
नानायोनिकृतावतार भगवन्; आकर्णयेः सावधम् ।

अर्थात् हे अनेक योगियों मे अवतार ग्रहण करने वाले देवता के भी नियामक प्रभो ! हे हरे ! आप सावधानी पूर्वक मेरी प्रार्थना को सुनें । आप अपनी कृपा वैपुल्य के द्वारा हमारे देहात्म भ्रम- तज्जन्य मेरे दुराचार समूह-उसके ही कारण प्राप्त यह मल पूर्ण शरीर तथा उसके साथ हमारी स्थिति को दूर करदें ।

कहने का आशय यह है कि इस गाथा में जिस तरह देहात्म भ्रम- दुष्कर्म- एवं शरीर की निवृत्ति की प्रार्थना की गयी है उसीतरह यहाँ भी अविद्या (अज्ञान) अविद्याजन्य कर्म- उनकी वासना- रुचि एवं प्रकृति बन्ध की निवृत्ति को भगवान् बहुबचनान्त के द्वारा सूचित किये है

अविद्या का स्वरूप बतलाते हुए श्री विष्णु पुराण में बतलाया गया है कि अविद्या के दो रूप है-(१) अनात्मा (शरीर- इन्द्रिय- मन प्राण, बुद्धि आदि) में आत्मा की प्रतीति होने लगना । इसी के कारण

मनुष्य शरीर आदि को आत्मा समझकर इनके ही पालन एव सर्वद्ध में लगा रहना है। (२) स्वव्यतिक्त में स्व की बुद्धि। इसके ही कारण हम दूसरे की वस्तुओं को उसके स्वामी की अनुमति प्राप्त किये बिना भी उसे अपना समझने लगते है।

श्रूयतां चाप्यविद्यायाःस्वरुपंकुलनन्दन
अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या अस्वेस्वमिति या मतिः।

इसी को प्रकारान्तर से श्री वरवर मुनि स्वामीजी बतलाते हैं कि अविद्या के तीन रूप हो सकते हैं। (१) ज्ञानानुदय रूपा—आत्मा के वास्तविक स्वरूप को न समझ सकने के कारण देह आदि को ही आत्मा मानने लगना। (२) अन्यथाज्ञानरूपा—इसके ही कारण परमात्मा के शेष भूत आत्मा को जीव स्वतन्त्र- आदि रूप से समझने लगता है (३) विपरीत ज्ञान—इसके कारण ही अधर्म भी धर्म रूप से प्रतीति होने लगती है।

आत्मा एवं परमात्मा के स्वरूप एवं संबन्ध का वास्तविक ज्ञान न होने के ही कारण जीव अनेक पुण्य पाप कर्मों को करता है किन्तु सच्छात्रों की आज्ञा है कि जिस तरह भगवत् प्राप्ति का विरोधी पाप कर्म है- उसी तरह पुण्य कर्म भी। अतएव पुण्य एवं पाप दोनों प्रकार के कर्म भगवत् प्राप्ति के विरोधी है। महर्षि पराशर कहते हैं कि मैत्रेय! जिसका मन भगवान् को ही उद्देश्य बनाकर उनके मन्त्रों जप- होम एवं भगवद् विग्रहों की अर्चना में लगा हुआ है- उसके लिए इन्द्र पद की प्राप्ति रूपी फल ही विघ्न रूप ही है।

वासुदेवे मनोयस्य, जपहोमार्चनादिषु ।
तस्यान्तरायो मैत्रेय ! देवेन्द्रत्वादिकं फलम् ।।

मुण्डक श्रुति भी कहती है कि पुण्य एवं पाप को नष्ट करके ही मुमुक्षु जीव मोक्ष को प्राप्त करता है,

'पुण्यपापे विधूय ।' (मु० ३।१।३) वासना भी तीन प्रकार की होती है।

(१) अज्ञान की वासना (२) कर्म वासना (३) प्रकृति संबन्धकी वासना । रुचि भी विषयों के भेद के कारण उनके प्रकार को होती है प्रकृत्ति संबन्ध भी दो प्रकार का होता है—सूक्ष्म प्रकृत्ति का संबन्ध और स्थूल प्रकृति का सबन्ध । भगवान् का अभिप्राय यह है कि इन सबों का त्याग अत्यावश्यक है। किन्तु तुम अपने प्रयास से इन सबों की निवृत्ति चाहो तो यह संभव नही है। इन सबों की निवृत्ति मैं स्वयं करूंगा। अतएव तुम्हें डरने की कोई बात नहीं है।

२६०—तृणच्छेद कण्डूयनादीनि प्रकृतिवासनयानुवर्तन्ते, लोकापवादभीत्या, करुणया सम्मोहेन च यानि क्रियन्ते तानि सर्वाण्यपि स्मार्यन्ते ।

अनु०—प्रकृति वासना होने के कारण होने वाले तृणच्छेदन-खुजलाना आदि- तथा लोकापवाद- करुणा- सम्मोह आदि के कारण भी जो पाप बन जाते हैं- उन सबों को सर्व पापेभ्यों के सर्व शब्द से स्मरण दिलाया गया है।

भा० दी०—शरीर संबन्ध के कारण हम कभी-कभी सामने पड़े

हुए तिनके को हम तोड़ने लग जाते है- अथवा सुरबने खुजलाने लग जाते है। कुछ ऐसे कर्मों को जिनको सामान्य लोग किया करते है । भगवत् शरणागति करने वालों को उन कर्मों को करने वालों को करने की आवश्यकता नहीं है- फिर भी यह सोचकर कि यदि हम इसे नहीं करेंगे तो लोकापवाद होगा। ऐसे ही कुछ कार्य जिन्हें कहरने की आवश्यकता नहीं है फिर भी यह सोचकर कि यदि मै इसे नहीं करूंगा तो हमारे अनुयायी भी इसे नहीं करेंगे करते है। तथा भ्रम के भी चलते कुछ अकार्य बन जाते है। इन सबो को भगवान् सर्व शब्द से सूचित करते है ।

२६१–'थोक्तोपायेष्वेतानि कथमन्वितानिभविष्यन्ती ति मा भूत् संशयः, उन्मत्तप्रवृत्तेर्ग्रामप्राप्तिरिवान्वितानि भविष्यन्त्येव ।

अनु०—यह नहीं शंका करना छाहिए कि पूर्वोक्त उपायों का परित्यक्त कार्यों से कैसे सम्बन्ध होगा ? पागल व्यक्ति की प्रवृत्ति से जैसे ग्राम की प्राप्ति हो सकती उसीतरह उनका भी परित्यक्त कार्यों से संबन्ध होगा ही।

भा० दी०—उपयुक्त सूत्र में यह बतलाया गया है कि फल की अनिच्छा से भी किये गये मोक्ष प्राप्ति के विरोधी कर्मों से भगवान् मुक्ति देने का बचन देते है। यहां पर यदि कोई यह शका करे कि क्या अनिच्छा पूर्वक किये गये कर्मों का संबन्ध परित्यक्त कर्मों से हो सकता है ? तो इसका उत्तर है कि अवश्य हो सकता है । क्योंकि

कर्म योगादि को परित्याज्य इसलिए बतलाया गया है कि वे मोक्ष प्राप्ति के विरोधी फल देते हैं। अनिच्छा से किये कर्मों का भी अवश्य फल होता है। जिसतरह कोई पागल निरुद्देश्य किसी मार्ग पर चलकर किसी गांव में पहुंच जाता है। उसी प्रकार निरुद्देश्य किये गये कर्मों का फल भी अवश्य होता है। अतएव वे भी मोक्ष प्राप्ति के विरोधी हैं। इसीलिए भगवान् सर्व शब्द से उन्हें भी सूचित करते हैं।

२६२—सम्मोहनोपाय बुद्धया क्रियमाणा प्रपत्तिरपि पातकेन तुल्या भवति।

अनु०—अज्ञान के कारण उपाय बुद्धि से की गयी प्रपत्ति भी पाप के ही समान होती है।

भा० दी०—प्रपत्ति का स्वभाव है कि वह जीवन में एक बार ही की जाती है। किन्तु यह सोचकर कि बार-बार शरणागति करने पे भगवान् अवश्य रक्षा करेंगे। बार-बार शरणागति किसी ने की तो वह भी पाप के ही समान होती है। क्योंकि शरणागति करने के बाद जीव का सारा भार भगवान् के उपर हो जाता है। इसके बाद तो भगवान् उस जीव की उसी तरह चिन्ता किया करते है जिस तरह कोई स्वामी अपने धन की। इसके बाद उस शरणागति स्वरूप को न समझकर शरणागति करना पापही है। ऐसे पाप को भी सर्व शव्द से सूचित किया गया है। और उसकी निवृत्ति का भगवान् वचन देते हैं।

२६३-६४—मोक्षयिष्यामि—मुक्तोयथा भवेस्तथा कुर्याम्।

अनु०—छुड़वा दूँगा—अर्थात् तुम जिस तरह मुक्त हो सकते हो वैसा करूंगा ।

भा० दी०—उत्तरार्द्ध का चतुर्थ पद है मोक्षयिष्यामि जिसका अर्थ है छुड़वा दूंगा । मोक्षयिष्यामि शब्द 'मोक्ष मुक्तीभवने' धातु से बना है मोच्लृ धातु से नही । क्योंकि मोच्लृ धातु से मोचयिष्यामि रूप बनेगा ! अतएव मोक्षयिष्यामि का अभिप्राय है कि तुम जिस तरह से पापों से मुक्त हो सकोगे मैं तुम्हे वैसा ही बना दूँगा ।

२६५—णिचा न त्वमपेक्षितः, न चाहमपेक्षितः; तानि स्वय-मेव त्वां त्यक्त्वा गच्छेयुः इति वदति ।

अनु०—णिच् प्रत्यय बतलाता है कि पापों से मुक्ति के लिए न तुम्हारा प्रयत्न अपेक्षित और न मेरा- वे स्वयं तुम्हे छोड़कर चले जायेंगे

भा० दी०—मोक्षयिष्यामि मे प्रेरणार्थक णिच् प्रत्यय का प्रयोग किया गया है । भगवान् को साधारणतः कहना था कि मैं तुम्हें पापों से मुक्त कर दूंगा । किन्तु भगवान् ऐसा न कहकर यह कह रहे हैं कि-मैतुम्हें पापों से मुक्त कराऊंगा । इसका अभिप्राय क्या है ? इसका अभिप्राय बत-लाते हुए श्री लोकाचार्य स्वामी जी कहते हैं कि णिच् प्रत्यय के द्वारा भगवान् यह बतलाते हैं की पापों कि मुक्ति के लिए न तो तुम्हारा कोई प्रयास अपेक्षित है और न तो मेरी ही । मेरा शरणागति एक राजगृह के समान है । जिसतरह किसी व्यक्ति को राजगृह मेंप्रवेश करते हुए देखकर उसके सभी विरोधी उससे डरकर स्वयं भग जाते है यहजानकरकि यह राजा का सम्बन्धी है । उसी प्रकार मेरी शरणागति करने मात्र से तुम्हारे इष्ट प्राप्ति के विरोधी सभी पाप तुमको छोड़कर स्वयं भग

जायेंगे। उसके लिए न तो तुमको प्रयास करना है और न मुझको।

२६६—मन्निग्रहपरतया प्राप्तानि, मदनुग्रह परे सति, तिष्ठेयुः किम् ? इति भाव ।

अनु०—भगवान् के कहने का भाव यह है कि—मेरे निग्रह रूप ये पाप मेरी कृपा होने पर भी रह जायेंगे क्या ?

भा० दी०—कहने का आशय है कि पाप कोई ऐसे पदार्थ नहीं हैं जिनका कोई आकार हो। अपितु—जब कोई जीव शास्त्र निषिद्ध कर्म करता है तो उससे भगवान् को अप्रसन्नता होती है। क्योंकि शास्त्र भगवान् की आज्ञा स्वरूप हैं। उनकी आज्ञाओं का उल्लंघन करना भगवान् की आज्ञाओं का उल्लंघन करने के समान है। अतएव क्षणध्वंसी होने के कारण यद्यपि वे कर्म तत्काल ही नष्ट हो जाते हैं फिर भी भगवान् के सत्य संकल्पानुसार एक अदृष्ट बन जाता है जो समयानुसार दुःख पहुँचाता है जब भगवान् यह सोचते हैं कि इसने मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया है अतएव इसको दुःख मिले। अतएव भगवान् की अप्रसन्नता से ही दुःख मिलता है। जब भगवान् स्वयं प्रसन्न हो जायेंगे तो फिर दुःख मिलने का प्रश्न ही कहां उठता है ?

२६७—अनादेः कालात् पापदर्शनेन या ते दशासीत् तां यथा ते प्राप्नुयुस्तथा कुर्याम् ।

अनु०—अनादि काल से पापों देखकर जो तुम्हारी भयाक्रान्तावस्था थी अब वही दशा मैं उनकी (पापों की) कर दूंगा।

भा० दी०—अनादि काल से तुम पापों को देखकर कांप जाते थे- पाप तुम्हे भयभीत कर देते थे। किन्तु अब तुमने शरणागति कर

ली है। अतएव अब वे तुमको देखकर स्वयं कांप जायेंगे । ऐसा मैं तुमको बना दूंगा। कहने का आशय है कि तुम मुक्त होकर अविर्भूत गुणाष्टक हो जाओगे तो उस समय तुम्हारे सन्निकट पाप नही आपायेंगे। क्योंकि मुक्त जीवों का स्वभाव है कि वे भी अखिलहेयप्रत्यनीक- और कल्याण गुण युक्त होकर परमात्मा के परमसाम्य को प्राप्त कर लेते है।

यह 'एषआत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युरविशोकःविजघत्सोरपि-पासःसत्यकामः सत्यसंकल्पः ? तथा -सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सहब्रह्मणा विपश्चिता' इत्यादि वेदान्त वाक्य बतलाते है।

२६८-इतः परं त्वां तव हस्तेऽपि नार्पयिष्यामि मच्छरीर गतं मलमहं न दूरीकुर्याम् किम् ?

अनु०—अबसे मैं तुम्हारे हाथ (वश) मे भी तुम्हेनही छोड़ूंगा अपने शरीर का मल क्या मैं स्वयं नही दूर कर सकता हूँ।

भा० दी०—जब तक जीव अहंकार एवं ममकार के अधीन रहता है तबतक भगवान् उसकी उपेक्षा करके तटस्थ रहते है। किन्तु वह अपनी भूल को समझ लेता है- और अपना एकमात्र स्वामी श्री भगवान् को जानकर उनकी शरणागति करता है तो भगवान् उसको अपनाकर उसे अपना शरीर मान लेते है। भगवान उसके पश्चात् स्वयं जीवको संभालने का काम करते है- छोड़ नयी देते कि तुम जानो और तुम्हारा काम जाने। सभी वेदान्त जीव को भगवान् का शरीर बतलातेऔर शरोर के मै को दूर करना यह काम शरीरी का है। इसीलिए भगवान् कहते है कि तुम्हारे जो अज्ञान आदि मैल है उनको मै अपने से ही दूर

करूंगा। इस काम को तुम्हे करने के लिए नहीं छोड़ूगा। इसलिए–

२६९–मा शुचः–

अनु०—शोक मत करो।

२७०–त्वत् कार्ये तवानधिकृतत्वात् मम त्वत्कार्येऽधिकृतत्वाच्च तव शोकनिमित्तं नास्ति इति तस्य शोक निवर्तयति।

अनु०—अपना कार्य करने में तुम्हारा अधिकार न होने- तथा तुम्हारा कार्य करने मे मेरा अविकार होने के कारण- तुम्हे शोक करने का कोई कारण नहीं है- इसतरह से भगवान् अर्जुन के शोक को दूर करते हैं।

भा० दी०–इस सूत्र में -माशुचः' पद का अर्थ बतलाया जा रहा है। अर्जुन के मन में यह शोच था कि मै अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकता हूँ। दूसरा कोई रक्षक भी नही दिखता है। अतएव मेरा उद्धार कैसे संभव है। उस शंका जन्य शोक को दूर करते हुए भगवान् कह रहे है कि तुम शोक मत करो। क्योंकि शोक करने की तो स्थिति तब आती जब तुम्हें अपना कार्य स्वय करने का अधिकार होता। तुम्हारा तो स्वरूप मेरे अधीन है। अतएव तुम्हारी रक्षा का कार्य मुझे करने का अधिकार है तुम्हे नही। तुम तो मेरे शरीर भूत हो। मै तुम जैसे अज्ञ और अशक्त तो हूँ नही। में तो सर्वज्ञ और सर्वशक्ति मान् हूँ- अत एव जानता हूँ कि तुम्हारे इष्ट की प्राप्ति के प्रतिवन्धक कौन है। उन्हे मै स्वयं दूर कर दूंगा।

२७२-निवर्वतक स्वरूपमुक्त्वा, निवर्त्यानित्वां नाभिगमिष्यन्तीत्युक्त्वा शोकनिमित्तं नास्तीतिब्रूते ।

अनु०-निवर्तक का स्वरूप बतलाकर निवर्त्य पाप तुम्हारे पास नहीं आपायेंगे यह कहकर- भगवान् कहते है कि तुम्हें शोक करने का कारण नही रहा ।

भा० दी०-इस सूत्र में चरमश्लोक में कहे गये पदार्थों को संगृहीत किया गया है । अहम् पद से भगवान् पापों के निवर्तक अपना स्वरूप बतलाये हैं । 'त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' इन तीन पदों के द्वारा भगवान् बतलाते हैं कि निवर्त्य पाप तुम्हारे पास आ नहीं पायेंगे माशुचः पद से भगवान् अर्जुन को आश्वासन देते हैं कि तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए । क्योंकि मेरी शरणागति करने वाले को शोक करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है । उनकी रक्षा का सारा भार तो मेरे ऊपर रहता है ।

२७१-'एति नालि डर्क्कडल् किडत्तियेलै नेञ्जमे' इत्याह

अनु०—हे मन ! जब भगवान् स्वयं हमारे पापों को दूर करने के लिए तैयार है तब तुम क्यों दुःख सागर मे डुब रहे हो । यह श्री भक्तिसार सूरि ने कहा है ।

भा० दी०-इस सूत्र में श्रीलोकाचार्य स्वामीजी ने उपर्युक्त अर्थ के समर्थन में श्री भक्तिसार सूरि प्रणीत तिरुचन्दादि ग्रन्थ के ११५वीं गाथा को उद्धृत किया है । इस गाथा में श्री सूरि अपने मन को यह सान्त्वना देते हैं कि हे मन तुम तो परमात्मा के दास हो तुम्हारे सभी

पापों को दूर करने के लिए भगवान् स्वयं तैयार हैं और तुम्हारे अन्तर्यामी बनकर बैठे हैं। अब तुम क्यों चिन्ता कर रहे हो ? इसी तरह भगवन् भी शरणागतों के पापों की निवृत्ति का कार्य अपना बतलाकर अर्जुन को शोक मुक्त होने का आश्वासन देते हैं।

२७३—पापानि क्षमित्वा पुण्यतया मयि भावयति कुतस्त्वं शोचसि।

अनु०—जब मैं तुम्हारे पापों को क्षमा करके उन्हें पुण्य रूप से मान रहा हूँ तो फिर तुम क्यों चिन्ता करते हो।

भा० दी०—भगवान् का अभिप्राय है कि शरणागत होते ही मैंने तुम्हारे सभी पापों को क्षमा कर दिया है। जिस तरह कोई अपराधी भी पुत्र पिता से क्षमा याचना करता है तो वह उसके अपराधों को क्षमा तो कर ही देता है। साथ ही पिता वात्सल्य के उद्रिक्त हो जाने के कारण उसके अपराधों को भी उसका गुण ही मान लेता है। उसीतरह जगत का पिता तुम्हारे पापों को भी पुण्य मानने लगा हूँ। अतएव तुम्हें चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

इस तरह उत्तरार्द्ध के पाँच पदों के द्वारा क्रमशः निवर्तक का स्वरूप- निवर्त्य के आश्रय- निवर्त्य पाप- निवृत्ति का प्रकार तथा शोक की निवृत्ति को बतलाया गया है।

२७४—अभिनवपुण्डरीकाक्षं प्रति श्रीरामानुजस्योक्तिः स्मर्तव्या।

अनु०—अभिनव पुण्डरीकाक्ष के प्रति कही गयी श्री रामानुजा-

चार्य की वार्ता का स्मरण करना चाहिए ।

भा० दी०—प्रस्तुत सूत्र में यह बतलाया जा रहा है कि इस चरम श्लोक द्वारा वर्णित अर्थ में सबकी रुचि नहीं होती है । अभिनव पुण्डरीकाक्षाचार्य बहुत बड़े विद्वान् एवं भक्तिनिष्ठ उपासक भी थे । उन्हें एक बार श्रीभाष्यकार रामानुजाचार्य ने प्रपत्ति का माहात्म्य बतलाया । उसे सुनकर श्री पुण्डरीकाक्षाचार्य ने कहा—आप के द्वारा वर्णित अर्थ तो अच्छे हैं फिर भी भक्ति मार्ग का परित्यागकर उसे अपनाने में मेरी रुचि नहीं हो रही है । यह सुनकर श्री रामानुजाचार्य जी ने कहा आप विद्वान् होने के कारण शास्त्रार्थ का अपलाप न कर इसे स्वीकार तो कर लिए किन्तु चूँकि आप पर भगवान् की कृपा नहीं हुई है अतएव प्रपत्ति को अपना नहीं रहे हैं । इससे सिद्ध होता है कि भगवत् कृपा हुए बिना भगवान् की शरणागति जीव नहीं करता है । इसलिए सूत्र २२८ में शरणागति को भगवत् कृपा की देन बतलाया गया हैं ।

२७५–श्लोकस्यास्य ईश्वर स्वातन्त्र्ये तात्पर्यम् ।

अनु०—इस श्लोक के तात्पर्य ईश्वर का निरकुंश स्वातंत्र्य प्रतिपादन में है ।

भा० दी०—शास्त्रों में आत्मोद्धार के अनेक साधन बतलाये गये है और यह कहा गया है कि इनमें से एक भी साधन को अपना लेने से आत्मा का उद्धार सम्भव है । चरम श्लोक यह बतलाता है कि उन सभी साधनों का साङ्गोपाङ्ग परित्याग करके तुम हमारे शरण में आओ मैं आत्मोद्धार के लिए सहायकान्तर निरपेक्ष साधन हूँ । मै तुम्हें

सभी पापों से मुक्त करके मोक्ष प्रदान कर दूंगा । इसका अभिप्राय है कि भगवान् चेतन की किसी भी प्रवृत्ति का ख्याल किये बिना अपने निरंकुश स्वातंत्र्य के द्वारा जीव को मोक्ष प्रदान करने में स्वतन्त्र है ।

२७६–श्लोकोयमनुवादकोटाविति वङ्गीपुरपूर्णस्योक्तिः ।

अनु०—श्री वङ्गीश्वराचार्य का कहना है कि यह श्लोक शरणागति के अनुवाद कोटि में आता है ।

भा० दी०—शास्त्रों में दो प्रकार के परिभाषित शब्दों का प्रयोग किया जाता है । विधि और अनुवाद । किसी अज्ञात अर्थ का प्रतिपादन अथवा कार्य की आज्ञा प्रदान करने वाला शास्त्र विधि शास्त्र कहा जाता है । किसी मैं ज्ञात अर्थ का पुनः पुनः अथथा बार बार करने की अनुमति प्रदान करने वाला शास्त्र अनुवाद शास्त्र कहलाता है । अब प्रश्न उठता है कि यह चरम श्लोक शरणागति का अनुवाद करता है अथवा विधान? क्योंकि पहले यह बनलाया जा चुका कि शरणागति चेतन के राग प्राप्त है तथापि शरणागति का विधान चेतन की शीघ्रतम प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने के लिये किया गया है । श्री रामानुजाचार्य स्वामीजी के चौहत्तर प्रधान शिष्यों में एक वङ्गीपुराधीश्वराचार्य हैं । उनका कहना है कि चरम श्लोक शरणागति का अनुवाद करता है ।

२७७–कृष्णस्यातिमानुषचेष्टितैः ऋषीणामुक्तिभिः, कृष्णस्य स्वमेव स्वकार्ये प्रवृत्तिदर्शनाच्चायमेवास्माकं रक्षक इति कृतनिश्चयेऽर्जुने पश्चात् स्वाश्रयणोपदेशात् ।

अनु०–भगवान् श्रीकृष्णकी अतिमानवीय चेष्टाओं- ऋषियों की

उक्तियों- तथा भगवान् श्रीकृष्ण की स्वयं ही अपने कार्यो को करने में प्रवृत्ति देखकर अर्जुन के यह निश्चय कर लेने पर कि एक मात्र भगवान् ही हमारे रक्षक हैं- भगवान् उसे शरणागति करने का उपदेश देते हैं

भा० दी०—श्री वङ्गीपुराधीश्वराचार्य का कहना है कि अर्जुन भगवान् के अतिमानवीय चेष्टाओं को ठीक ढंग से जानता था । वह जानता था कि भगवान् बचपन में ही पूतना और कंस का बध किये हैं । वह यह भी जानता था कि भगवान् ने अपने आचार्य को गुरु दक्षिणा के रूप में उन्हें बहुत वर्षों के मरे हुए पुत्र को यमलोक से लाकर दे दिया था । ब्रह्मा और इन्द्र आदि भी भगवान् का कुछ नही विगाड़ सके थे । अतएव भगवान् श्रीकृष्ण पर भरोसा रखता था और जानता था कि भगवान् ही हमारे रक्षक हैं । ऋषियों ने भी अपने उनके स्तुतियों में भगवान् को ही सबों का एक मात्र रक्षक और शाश्वत निलय बतलाकर अपने उद्धार के लिए भगवान् की शरणागति की है स्वयं भी वह देख चुका था कि भगवान् ही जब जब हम विपत्ति मे फँसे तो हम लोगों को बचाये । द्रौपदी [illegible] को बढ़ाकर- शाक-मात्र से सशिष्य दुर्वासा की तृप्ति कर भगवान ने अनेक बार पाण्डवों की रक्षा की थी । अतएव उसने यह निश्चय कर लिया था कि भगवान ही हमारे एक मात्र रक्षक है । भगवान् तो सर्वज्ञ हैं । अतएव वे अर्जुन के इस निश्चय को जानते थे और तब उन्होने कहा तुम सभी उपायान्तरों का वासना सहित त्याग पूर्वक त्याग करके मेरी शरण में आ जाओ मै तुम्हारी रक्षा करूंगा ।

२७८—अधस्तनाध्यायेषूपदिष्टमप्येतच्चित्तशोधनार्थम् ।

अनु०—पहले के अध्यायों में भगवान् ने अर्जुन के चित्र की परीक्षा करने के लिए उपायान्तरों का उपदेश दिया है।

भा० टी०—अब प्रश्न यह उठता है कि जब भगवान् यह जानते थे कि अर्जुन हमको ही एक मात्र अपना रक्षक समझता है तो फिर उन्हें अर्जुन द्वारा अपने उद्धार का साधन पूंछने पर शरणागति का ही उपदेश दे देना चाहिये था। किन्तु भगवान् ऐसा न करके पहले कर्मयोग ज्ञानयोग- आदि अनेक उपयों का उपदेश क्यों दिया ? तो इसका उत्तर यह है कि भगवान् ने पहले उपायान्तरों का उपदेश देकर अर्जुन की परीक्षा लेना चाहा कि शरणागति का वास्तविक अधिकारी है अथवा नहीं। इसीलिए भगवान् ने उपायान्तरों का वर्णन किया। किन्तु जब अर्जुन की उससे तृप्ति उन्होंने नहीं देखा तो फिर भगवान् ने उसे अन्त में शरणागति का उपदेश दिया। किंच सर्व प्रथम किसी रहस्य का उपदेश देने से वह उपदेश अधिकारी के हृदय मे अपना दृढ़ स्थान नही बना पाता है अतएव भगवान् ने अर्जुन की योग्यता की परीक्षा के पश्चात् शरणागति का उपदेश दिया।

२७९—वेदपुरुषकृतमुपायान्तरविधानम् स्वैरचारिणः पशोर्विनयनाय गले यष्टिबन्धनवत् अहङ्कारममकारोत्पन्नमदनाशपूर्वकस्वरूपज्ञानोत्पत्त्यर्थम् ।

अनु०—वेद पुरुष भी दुष्ट गौ को सीधा करने के लिए गले में बांधकर लटकायी गयी लकड़ी की भांति जीव के अहङ्कार मामकार जन्य

मद का नाश करके स्वरूप ज्ञान को उत्पन्न करमे के लिये उपायान्तर का विधान करते है।

भा० दी०—अब प्रश्न यह उठता है कि यद्यपि भगवान् की शरणागति के विषय में यह समाधान तो ठीक है। किन्तु सम्पूर्ण जगत् के कल्याण का उपदेश करने वाले वेद पुरुष अधिक मात्रा में उपायान्तरों का ही क्यो उपदेश देते है। शरणागति को उहोंने क्यों अत्यन्त गोप्य रखा? तो इसका उत्तर यह है कि—मानव के मन में अहंकार एवं ममकार के कारण यह सदा भावना बनी रहती है कि मै ज्ञानवान् एवं शक्तिमान्हूँ अतएव अर्थ से लेकर मोक्षपर्न्त सभी पूरुस्वार्थों को अपने प्रयत्न से प्राप्त कर सकता हूँ। जब तक अहङ्कार एवं ममकार जन्य यह गर्व मिटेगा नहीं तबतक जीव शरणागति का महत्त्व नहीं समझ सकता है। अतएव वेद पुरुष अनेक दुष्कर उपायान्तरों का वर्णन करता है। जिनका अनुष्ठान करते करते जीव थक जाता है और अन्त में उसे असफता ही हाथ लगती है। तब वह भगवत् शरणागति का महत्त्व समझ पाता है और उसका अत्यन्त आदर करता है।

वेद पुरुष का यह उपायान्तर का विधान उसी तरह है जिस तरह कोई गोपालक उस गाय को जो वहुत दुष्ट होती है। कहीं एक जगह शान्तिपूर्ण घासों को नहीं चरती है। बल्कि चारो तरफ दौड़ा करती है और गोपालक को परेशान करती है। उसके गले में लकड़ी बाँधकर लटका देते हैं जिससे कि वह इधर उधर भाग नहीं पाती है। इसी तरह दृप्त चेतन के दर्प को दूर करने के लिए अनेक दुष्कर

उपायान्तरों का उपदेश देते हैं ।

२८०—सन्यासिनः पूर्वाश्रमपरित्याग इव उत्पन्ने तावज्ज्ञानस्यै-तत्परित्यागेन दोषः ।

अनु०—जिस तरह सन्यासी अपने पहले के आश्रम के धर्मो का परित्याग कर देता है उसी तरह जिसको भगवत् शरणागति का ज्ञान उत्पन्न हो गया है उसके उपायान्तरों का परित्याग करने में कोई दोष नहीं है ।

भा० दी०—शाधारणतया शास्त्रों के जानकारों के मन में यह प्रश्न उठता है कि शास्त्र तो भगवान् की आज्ञारूप हैं । उन शास्त्रों मे ही कर्मयोग- भक्तियोग आदि को साधन बतलाया गया है । फिर उनका बिल्कुल त्याग कैसे किया जा सकता है । और परमश्लोक में शरणागति के पूर्वाङ्ग रूप से कर्म योगादि- साधनों का परित्याग बतलाया गया है । तो इसका यहां पर यह समाधान दिया जाता है कि शास्त्रों में सभी वर्णों- सभी आश्रमों- एवं सभी अवस्थाओं के लिये अलग–अलग धर्म बतलाये गये हैं । ब्रह्मचारी के गृहस्थ के और सन्यासी धर्म अलग अलग हैं । किन्तु जिस तरह सन्यासी ग्राहस्थ्य धर्म परित्याग बिना किसीहिचक के त्याग देता है उसीतरह शरणागति करने के लिए साधन रूप से बतलाये गये कर्मयोग आदि का त्याग कर देना चाहिए । किंच जिस तरह सन्यासी द्वारा पूर्वाश्रमो के धर्मों का परित्याग कर देने में कोई पाप नहीं होता उसीतरह शरणागत द्वारा कर्मयोगादि के परित्याग कर देने से कोई पाप नही लगता है । किंच—

२८१–अयमप्येतान् स्वरूपान्न परित्यजति ।

अनु०– शरणागत भी इन कर्मयोग आदि का स्वरूपतः परित्याग नहीं करता है ।

२८२–कर्माणि कैङ्कर्येऽन्तर्भवन्ति, ज्ञानं स्वरूपप्रकाशेऽन्तर्भवति । भक्तिः प्राप्यरुचावन्तर्भवति, प्रपत्तिः स्वरूपयाथात्म्य-ज्ञानेऽन्तर्भवति ।

अनु०–कर्मो का भगवत् कैंकर्य में अन्तर्भाव हो जाता है । ज्ञान का स्वरूप ज्ञान मे अन्तर्भाव हो जाता है। भक्ति का प्राप्य की रुचि में अन्तर्भाव होता है- तथा प्रपत्ति का स्वरूप के ठीक–ठीक ज्ञान में अन्तर्भाव हो जाता है ।

भा० दी०—इन दो सूत्रों मे उपयु`क्त शंका का दूसरा समाधान दिया गया है। वह यह कि जो सिद्धोपाय रूप से परमात्मा को जान लेता है । वह इन कर्मयोग आदि का स्वरूपतः त्याग नही करता है बल्कि वह पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा मे उन्हे करता है । किन्तु वह कर्मो को स्वर्ग आदि की प्राप्ति के लिये नही करता है- बल्कि वह जो कुछ भी करता है वह भगवान् का कैकर्य समझकर भगवन्मु-खोल्लास के लिये करता है । उसके ज्ञान जो है आत्मज्ञान स्वरूप हो जाते है । उसकी भक्ति परमात्मा को प्राप्त करने की रुचि की त्वरा के रूप में परिणत हो जाती है। वह प्रपत्ति को भी परमात्मा काप्राप्ति का स्वतन्त्र साधन न मानकर अपने को परमात्मा का शेष रूप मानने लगता है जो उनके स्व स्वरूप के ठीक-ठीक ज्ञान के अन्तर्गत आता है

चूँकि उसके द्वारा अनुष्ठित कर्मयोग आदि का रूपान्तर में परिणाम हो जाता है अतएव उसे उन कर्मयोग आदि के परित्याग का किसी भी प्रकार पाप नहीं लग सकता है।

२८३—एकं फलमुद्दिश्य दुष्करस्य सुकरस्यचोपायस्योपदेशात् एतदुभयभिन्नोभगवत्प्रसाद एवोपायो भवितुमर्हति ।

अनु०—चूँकि भगवत् प्राप्ति रूपी एक ही फल को लक्षित कर कठिन एवं सरल दोनों प्रकार के उपायों का उपदेश किया गया है अतएव पता चलता है कि इन दोनों से भिन्न भगवान् की कृपा ही भगवत् प्राप्ति का उपाय है।

भा० दी०—गीता शास्त्र में ही मोक्ष की प्राप्ति के लिए भक्ति जैसे दुष्कर उपाय को भी बतलाया गया है और प्रपत्ति जैसे सरल उपाय को भी। स्मृति में बतलाया गया है कि हजारों जन्म तक मानव तपस्या, ज्ञान, कर्म एवं समाधि का अनुष्ठान जब शुद्ध अन्तःकरणवाला बन जाता है उसके सारे पाप जब समाप्त हो जाते हैं तब उसके मन में भगवान् के प्रति भक्ति का उद्रेक हो जाता है ।

जन्मान्तरसहस्रेषु तपोज्ञानसमाधिभिः ।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिःप्रजायते ।

अतएव भक्ति मार्ग का अनुष्ठान अयत्न्त दुष्कर है। शरणागति का उपदेश देते हुए भगवान् ने कहा कि सभी उपायान्तरों का परित्याग करके मेरी शरण मे आ जाओ। अतएव यह अत्यन्त सरल है ।

ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि भगवान् ने ऐसा क्यों

किया ? जब दोनों का फल एक ही है तो कौन है जो प्रपत्ति को छोड़कर अन्य मार्गों को अपनाये ? ऐसी स्थिति में भक्ति का मोक्षोपायत्व कैसे सुरक्षित रह सकता है ? तो इसका उत्तर देते हुए श्रीलोकाचार्यस्वामीजी कहते हैं कि न तो मोक्ष का उपाय भक्ति है और न तो प्रपत्ति ये तो भगवान् को प्रसन्न करने के साधन मात्र हैं। मोक्ष का तो साधन भगवान् की कृपा मात्र है।

२८४–फलसिद्धेरप्रतिषेधः प्रार्थनाचापेक्ष्यते ।

अनु०–फल की प्रार्थना के लिए अप्रतिषेध और प्रार्थना ये दोनों ही अपेक्षित हैं।

भा० दी०–अब प्रश्न यह उठता है कि यदि भगवान् की कृपा ही मोक्ष का साधकतम है तो फिर उसे प्राप्त करने के लिये चेतन को क्या करना चाहिये ? तो इसका उत्तर यह है कि प्रपन्न को चाहिये कि वह भगवान् की प्राप्ति के लिये स्वयं कर्मयोगादि प्रयत्न को न करे। क्यों कि ऐसा करना भगवान् द्वारा की जाने वाली रक्षा का प्रतिबन्धक है। अतएव यह सोचकर कि हमारे रक्षक भगवान् हमारी रक्षा स्वयं करेंगे- एतदर्थं भगवान् से मोक्ष प्राप्ति के लिये दीन बनकर प्रार्थना मात्र करते रहना चाहिये।

२८५–दाशरथिः सहपापेनागतोऽपियोग्यएवेत्याह । अयं तुपुण्यं त्यक्त्वागन्तव्यमिति ब्रूते ।

अनु०—भगवान् राम ने कहा कि पापी भी शरणागत होने के योग्य ही है- किन्तु ये (भगवान् श्रीकृष्ण) तो कहते हैं कि पुण्यों

का त्याग करके ही शरण में आना चाहिये।

भा० दी०—प्रश्न उठता है कि क्या पापी भी दीन होकर भगवान् की शरणागति कर ले तो क्या उसे भगवान् मोक्ष प्रदानकर देंगे तो उसके विषय में भगवान् के दो अवतारों के उदाहरण दिये जाते हैं। जिस समय विभीषण भगवान् राम के शरण में आने लग गया उस समय सुग्रीव आदि कुछ लोगों ने आपत्ति उठायी। सुग्रीव ने कहा यह रावण का गुप्तचर हो सकता है और निश्चय ही हो सकता है कि हमारी सेना में प्रवेश करके हमारा भेद लेने आया हो। अथवा स्वयं ही वह बुद्धिमत्ता पूर्वक हमारे रहस्यों को जानकर हमारी सेना में प्रवेश करके घात कर बैठे। अतएव मैं यही उचित मानता हूँ कि इसको आप निग्रह करें।

प्रणिधी राक्षसेन्द्रस्य रावणस्य भवेदयम्
अनुप्रविश्य सोऽस्मासु भेदं कुर्यान्नि संशयः।
अथवा स्वयमेवैष छिद्रमासाद्य बुद्धिमान्
अनुप्रविश्य विश्वस्ते कदाचित्प्रहरेदपि।

× × × × ×

तस्याहं निग्रहं मन्ये क्षमं क्षमवतां वर ॥

किन्तु भगवान् ने कहा कि मैं तो यह नही जानता हूँकि यह पुण्यवान् है कि पपी विभीषण की तो कोई बातही नहीं यदि अत्यन्त दुष्टकर्म करनेवाला रावण भी हो और मेरी शरण मे आना चाहता हो- तो उसे आने दो। मैंने उसे अभय प्रदान कर दिया।

सुदुष्टोवाप्यदुष्टो वा किमेष रजनीचरः ।

× × ×

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया ।
विभीषणो वा सुग्रीवो यदि वा रावणः स्वयम् ।

इस तरह भगवान् राम ने बतलाया कि पाप भी मेरी शरण में आ सकता है ! कोई आपत्ति नहीं । किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ने तो इस चरम श्लोक में उदारता की पराकाष्ठा ही दिखादी । उन्होंने कहा यदि किसी ने पुण्यानुष्ठान किया है और यह उसके बल पर मेरी शरण में आना चाहता है तो उसे मेरी शरण में आने की कोई आवश्यकता नहीं है । मेरी शरण में आने के लिए सबसे पहले सभी धर्मों का वासना सहित लज्जापूर्वक त्याग करना होगा । इस प्रकार का त्याग ही मेरी शरणागति का पूर्वाङ्ग है ।

२८६–'आस्तिकस्यास्मिन्नर्थे रुचिविश्वासशालिनः उज्जीवनं भवति । नास्तिकस्य विनाशः, मध्यमातु स्थितिर्नास्ति इति भट्टारकं प्रति गोविन्दाचार्यस्योक्तिः ।

अनु०—इस अर्थ में रुचि एवं विश्वास रखने वाले आस्तिक की उन्नति होती है और इस अर्थ मे विश्वास नहीं रखने वाले का विनाश हो जाता है । इसके बीच की कोई स्थिति नहीं है ।' यह श्रीगोविन्दाचार्य स्वामीजी ने पराशरभट्टर स्वामी से कहा था ।

भा० दी०–श्री गोविन्दचार्य स्वामीजी श्रीरामानुजाचार्य स्वामीजी

के मौसेरे भाई थे और उनके शिष्य भी थे। उनके प्रिय शिष्य थे श्री कूरेश स्वामीजी के पुत्र श्रीपराशर भट्टर स्वामी । श्री गोविन्दाचार्य स्वामीजी ने श्री पराशर भट्टर स्वामी को उपदेश देते हुए कहा कि जो व्यक्ति पूर्ण विश्वास और रुचि के साथ चरम श्लोक मे बतलाये गये सर्व धर्म परित्याग पूर्वक भगवत् शरणागति करता है उसका तो आत्मोज्जीवन हो जाता है और जिस व्यक्ति की उक्त अर्थ में श्रद्धा नहीं होती है उसका शरणागति करने पर भी विनाश हो जाता है । इन दोनों कोटियों के अतिरिक्त कोई तीसरा मार्ग नही है । अर्थात् ऐसा नही है कि इस अर्थ में थोड़ा विश्वाश होने के कारण सभी धर्मों का तो परित्याग करदे किन्तु थोड़ी विश्वास में कमी होने के कारण भगवान् के रक्षकत्व का पूर्ण विश्वास न हो सके । जो ऐसा करता है उसका तो विनाश हो ही जाता है । क्योंकि धर्मों के परित्याग के कारण उसको पाप भी लगेगा और विश्वास में कमी होने के काशण शरणागति रक्षा भी नहीं कर सकती है ।

२८७–अध्यवसायशून्यस्य प्रपत्तिप्रवेशोऽजीर्णे भोजनमिव ।

अनु०—दृढ निश्चय रहित की शरणागति मे प्रवेश अजीर्ण मे भोजन करने के समान है ।

भा० दी०—जिस व्यक्ति की शरणागति में महाविश्वास रूपी दृढ निश्चय नहीं है उसकी शरणागति उसी प्रकार से उनके लिये हानिकर होगी जैसे कोई अजीर्ण मे भोजन कराले ।

२८८–'चिट्टचित्तर केट्टिरुप्पर' इत्युक्तप्रकारेणाधिकारिणो

नियताः ।

अनु०—श्रीविष्णुचित्त सूरि भगवान् श्रीकृष्ण के अभय वचन के अनुसार निष्ठावान् रहते है । इस गोदादेवी के कथनानुसार इस चरम श्लोक के अर्थ श्रवण के अधिकारी नियत हैं ।

भा- दी०—श्रीगोदादेवी अपने श्री सूक्त नामक दिव्य प्रबन्ध के दशवी गाथा मे लिखती है कि कपट रहित श्री रङ्गनाथ भगवान् ने ही अपने श्रीकृष्णावतार में अर्जुन के रथ पर विराजमान होकर सभी जीवों के लिये जो अभय वचन दिया है मेरे पिताजी उसी के अनुसार निष्ठावान् रहते है । अर्थात् वे सभी धर्मों के परित्याग पूर्वक चरम श्लोक में पूर्ण निष्ठा रखते है । उनका जो कुछ भी कर्म होता है भगवत् मुखोल्लासार्थ ही होता है । उपाय बुद्धया वे कुछ भी नही करते है । उनकी गाथा का शब्दार्थ इस प्रकार है ।

विट्टुचित्तर = श्री विष्णुचित्त सूरिजी- केट्टु = भगवान् श्रीकृष्णप्रोक्त अभय वचन (को सुनकर) इरुप्पर = तदनुसार निष्ठावान् रहते है ।

२८६—'वार्तैयरिपवर' इतिगाथा 'अत्तनागि इतिगाथा, चैतदर्थतयाऽनुसन्धेये ।

अनु—इस चरम श्लोक के अर्थ के रूप में -वार्तैयरिपवर' तथा -अत्तनागि' इन दो गाथाओं के अर्थ का अनुसंधान करना चाहिये ।

भा० दी०— दिव्य सूरियों के प्रबन्धों में अनेक स्थलों में रहस्य-त्रय का विवरण देखा जाता है । प्रकृत सूत्र में श्री लोकाचार्य स्वामीजी ऐसे दो गाथाओं को उद्धत करते है जो चरम श्लोक के विवरण रूप है । इसमें पहली गाथा श्रीशठकोप सूरि की सहस्र गीति की (७।५।१०) वीं गाथा है । इस गाथा का अर्थ है कि—श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान ने पार्थ के व्याज से सभी प्रपन्न जनों को अभय वचन देते हुए कहा है कि तुम्हें चारों ओर से घेरने वाले जन्म- जरा- व्याधि- मरण एव

स्वात्मानुभवरूप कैवल्य से छुड़ाकर अपने पादों के नीचे ही दृढ़ रूप से स्थापित करूंगा और इशके पश्चात् कभी संसार चक्र में नहीं भेजूंगा भगवान् अपनी इसी उक्ति के अनुसार कार्य करने वाले है। इस तत्त्व को जानने वाले क्या ऐसे आश्रयणीय- विरोधी निवर्तक और परमैश्वर्य भूत भगवान् को छोड़कर किसी दूसरे के शेष (दास) बन सकते है ? अतएव हमें भगवान् के उक्त उपकार स्मरण करते हुए उन्हीं का शेष बने रहना चाहिये।

दूसरी -अत्तिनागि' आदि गाथा श्री भक्तिसारि सूरि प्रणीत -तिरुच्चंदविरुत्तम्' नामक दिव्य प्रबल्ध की ११५वी गाथा है। इसका अर्थ अर्थ है कि हे दीनमन ! हमारी सेवा स्वीकार करने के लिए भगवान् ने हमारे अनेक उच्चावच्च जन्मों को समाप्त करके हमारे पिता एवं स्वामी बनकर हमारे मन मे प्रवेश करके स्थित हैं। अतएव तुम क्यों दुःखी हो। कहने का आशय है कि स्वभावतः सभी आत्माएँ ज्ञान स्वरूप है फिर भी कर्म भेद के कारण वे देव- मानव आदि विभिन्न योनियों को धारण करती हैं। भगवान तो स्वभावतः दोषों के विरोधी है अतएव वे अपनी स्वाभाविक करुणा के द्वारा जीवों को नित्य जीवों की गोष्ठी में बैठा सकते हैं। हमारे स्वाभाविक रूप से सारे माता-पिता बन्धु आदि भगवान् ही है। अतएव वे अपने अपार वात्सल्य के कारण अपनी महत्ता का ख्याल किये बिना हमारे हृदय में प्रवेश करके हमसे अपनी सेवा लेने के लिए हमारी राह देख रहे हैं। 'इस तरह हमारे दुखानुभव की कोई आवश्यकता नहीं है। इस तरह दोनों गाथायें चरम श्लोक के विवरण हैं।

इस तरह श्री लोकाचार्य स्वामी प्रणीत 'मुमुक्ष पडि के चरम श्लोक की हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई।

इस तरह मुमुक्षु पडि ग्रन्थ भी समाप्त हो गया।